बिहारी की वाग्विभूति

—o—

लेखक—
पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र एम० ए०,
'साहित्य-रत्न'
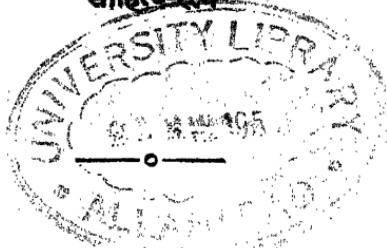
प्रकाशक—
हिंदी-साहित्य-कुटीर,
बनारस

होली, २००४

प्रकाशक—

हिंदी-साहित्य-कुटीर,

बनारस

मूल्य २)

मुद्रक—

ह० मा० सप्रे,

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।

उपक्रम

बिहारी की सतसई की पढ़ाई कई परीक्षाओं में हो रही थी, पर उनकी विशेषताओं का उद्घाटन करनेवाला कोई आलोचनात्मक ग्रंथ नहीं था। यों तो बिहारी पर बहुत-से प्रशंसात्मक लेख निकले और उनको लेकर हिंदी में भारी अंधड़ उठ खड़ा हुआ, पर शुद्ध-आलोचनात्मक ग्रंथ कोई नहीं लिखा गया। तुलनात्मक समीक्षा की सरणि पर दो पुस्तकें अवश्य प्रस्तुत हुईं—एक स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-सतसई की भूमिका' और दूसरे पं० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० का 'देव और बिहारी'। इन पुस्तकों में भी बिहारी की विशेषताओं का सम्यग् निरूपण नहीं है, केवल तुलना-मूलक समीक्षा का ही जोर है। स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने भी एक छोटी-सी पुस्तिका 'बिहारी और देव' नाम से निकाली थी, पर उसमें बिहारी और देव की बड़ाई-छोटाई की ही नाप-जोख है और वह इसी झगड़े को लेकर लिखे गए लेखों का संग्रह मात्र है।

किसी कवि की शुद्ध समीक्षा में जीवन-वृत्त उतना उपयोगी नहीं होता, पर जानकारी के लिए एक संक्षिप्त जीवनी इस पुस्तक के आरंभ में जोड़ दी गई है। इस जीवनी के लिखने में हमें विशेष सहायता स्वर्गीय बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बी० ए० के उस लेख से मिली है जो 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के आठवें भाग में निकला था। बिहारी के जीवन की घटनाओं के संबंध में जो बहुत-सी बातें ज्ञात हुई हैं उनका विस्तार इस पुस्तक में नहीं किया गया है। यदि आवश्यकता पड़ेगी तो उसपर फिर कभी विचार किया जायगा। किंतु यहाँ पर केवल एक बात का उल्लेख किया जाता है, जिसपर हिंदी-साहित्य के इतिहास से अभि-रुचि रखनेवाले विद्वानों को विचार करना चाहिए। स्वर्गीय बा० राधा-

कृष्णदास ने एक लेख लिखकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशवदास थे। रत्नाकरजी ने भी अपने लेख में यह बात पूर्णतया तो नहीं, पर अंशतः स्वीकार की है। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में उन्होंने केशवदासजी को पिता न मानकर गुरु मान लिया है। और इस संबंध में अनुसंधान करनेवालों का आह्वान किया है।

बिहारी के पिता कोई प्रसिद्ध केशव कवि थे, इसमें तो संदेह नहीं। बिहारी के जिस दोहे की टीका में कृष्णलाल ने पिता और श्रीकृष्ण की युगपत् वंदनावाली बात लिखी है, उससे तो उक्त केशव के कवि होने का समर्थन इतना अधिक नहीं हो सकता, क्योंकि पिता की वंदना बिना कवि हुए भी कोई कर सकता है। किंतु बिहारी के भानजे कुलपति मिश्र ने अपने 'संग्राम-सार' के मंगलाचरण में जिस प्रकार अपने नाना का स्मरण किया है उससे यह स्पष्ट है कि वे कोई प्रसिद्ध कवि अवश्य थे। ग्रंथ के आरंभ में एक तो नाना की वंदना करने का कोई प्रचलन नहीं, दूसरे वे कम से कम यदि ऐसा किसी विशेष कारण से करते भी तो उन्हें 'कविवर की उपाधि कभी न देते।

सं० १८६ में असनी के ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता काशी-निवासी देवकीनंदन के नाम पर 'सतसैया-बर्णार्थ' नामक टीका लिखी है। इस टीका में बिहारी का विस्तृत वृत्तांत भी लिखा गया है। इन्होंने बिहारी-सतसई के संबंध में लिखा है कि यह बिहारी की लिखी हुई न होकर उनकी पत्नी की बनाई हुई है। उन्होंने 'बीरबली' लतीफे के ढंग की एक कथा भी दी है। जिसका सारांश इस प्रकार है—

"बिहारी की पत्नी बड़ी कवयित्री थी। बिहारी जयपुर में एक साधारण ब्राह्मण की भाँति वृत्ति पाया करते थे। एक बार जब वे जयपुर अपनी वृत्ति लेने के लिए गए तो महाराज को नयी ब्याह लायी हुई रानी के प्रेम में पड़ा हुआ पाया। इसीलिए वे महलों से कभी दरबार में नहीं आते थे। बेचारे को लौट आना पड़ा। बिहारी ने यह समाचार अपनी पत्नी को सुनाया। उसने तुरंत "नहिं पराग नहिं मधुर मधु" (३८) दोहा बनाकर उन्हें फिर जयपुर भेजा। जब उक्त दोहा महाराज के पास

पहुँचा तो वे महल से बाहर निकले और बिहारी को 'अँजुरी भर' मोहरें दीं। साथ ही उन्होंने कहा कि इसी प्रकार के दोहे यदि बना लाया करो तो तुम्हें प्रति दोहा एक मोहर मिलेगी। बिहारी ने पत्नी से यह समाचार आ सुनाया। पत्नी ने १४०० दोहे बनाए और १४०० मोहरें प्राप्त कीं। उन्हीं चौदह सौ दोहों में से छाँटकर सौ दोहों की सतसई तैयार की गई। इस सतसई को लेकर पत्नी के आज्ञानुसार बिहारी छत्रसाल महाराज के दरबार में पहुँचे। सतसई उन्हें दिखाई गई। उन्होंने उसकी जाँच के लिए उसे अपने धार्मिक गुरु प्राणनाथजी को दे दिया। प्राणनाथजी साधु थे, इसलिए शृंगार की कविता को उन्होंने घृणोत्पादक कहा। बेचारे बिहारी अपना-सा मुँह लेकर लौट आए। पर उनकी पत्नीजी कब चूकनेवाली थीं। उन्होंने बिहारी को फिर उन्हीं पैरों लौटाया और कहा कि महाराज से जाकर कहना कि पन्ना में युगुलकिशोरजी के मंदिर में प्राणनाथजी की कविता और सतसई रात में रखी जाय। जिसपर भग-वान् के हस्ताक्षर हो जायँ वही प्रामाणिक मानी जाय। ऐसा ही किया गया। बिहारी-सतसई पर ही हस्ताक्षर हुए। इधर बिहारी चुपके-से चल आए, आकर पत्नी को सब समाचार सुनाए। महाराज ने खोज कराई तो कुछ भी पता न लगा। तब बिहारी के यहाँ पत्र भेजवाया। पत्र के उत्तर में पत्नी ने ये दोहे लिख भेजे—

तौ अनेक औगुन-भरिहिं चाहै याहि बलाइ।
जौ पति संपतिहूँ बिना जदुपति राखे जाय॥
दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-बिस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट ही चंग-रंग गोपाल॥

दूसरा दोहा प्राणनाथजी के पत्र के उत्तर में था। महाराज ने यह उत्तर पढ़ा तो बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बिहारी को बहुत-से ग्राम दिए।"

इस 'बीरबली' लतीफे से केवल इतना ही सिद्ध हो सकता है कि बिहारी की स्त्री भी कविता किया करती थी। पर इसकी सब बातें प्रामा-णिक नहीं हैं, इतिहास से किसी का प्रमाण नहीं मिलता और परंपरा में यह कथा सिवा उस टीका के और कहीं सुनी भी नहीं गई। भाटों के

वाग्जाल में कहाँ तक विश्वास किया जाय ! पर हिंदी में कुछ लोग इसी कथा के आधार पर और नहीं तो इतना अवश्य मानने लगे हैं कि बिहारी ने बहुत-से दोहे बनाए थे, उनमें से और तो नष्ट कर दिए केवल चुने हुए सात सौ दोहे रख लिए। यदि ऐसा न होता तो बिहारी की इतनी उत्तम कविता न होती आदि आदि। लोग चाहे जो अनुमान लड़ावें, पर इस कथा में कोई विशेष तथ्य है नहीं। बिहारी की पत्नी भी कविता किया करती थी, इसके अतिरिक्त अधिक दूर तक जाना व्यर्थ ही भ्रम फैलाना है।

बिहारी की पत्नी यदि अपने नाम से प्रसिद्ध न हो, तो अपने पति के नाम से और यदि कहीं ससुर भी अच्छा कवि हुआ तो ससुर के नाम से प्रसिद्ध हो सकती है। मिश्रबंधु-विनोद में 'केशव-पुत्रवधू' नाम से एक कवयित्री का उल्लेख है। किसी के नाम से पुत्रवधू तभी प्रसिद्ध हो सकती है जब वह स्वयं कोई अच्छा कवि हो। इसलिए ये कोई प्रसिद्ध केशव रहे होंगे। इसका समय भी बिहारी के समय से मिलता है इस-लिए यह भी माना जा सकता है कि संभवतः वह बिहारी की ही पत्नी हो। यह भी कहा जाता है कि केशवदासजी की जीवनी के संबंध में जो यह प्रसिद्धि है कि उन्हें अपनी पुत्रवधू के ही कारण 'विज्ञान-गीता' की रचना करनी पड़ी, इससे केशवदासजी की पुत्रवधू का उनके नाम पर प्रसिद्ध होना बहुत संभव है। इसलिए केशवदासजी बिहारी के पिता थे।

पर यदि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशवदास होते तो यह बात परंपरा में अवश्य प्रसिद्ध होती। इससे जान पड़ता है कि बिहारी प्रसिद्ध कवि केशव के पुत्र नहीं थे। पर वे किसी और केशव के पुत्र अवश्य थे, और वे केशव भी अच्छे कवि रहे होंगे। उनकी कविता अधिक प्रचलित नहीं हो पाई, इसलिए उनका नाम कहीं सुन नहीं पड़ता। यदि ऐसा मान लिया जाय तो 'केशव-पुत्रवधू' का झगड़ा भी मिट जाता है और कुलपति मिश्र की वंदना में आए हुए 'कविवर' शब्द की संगति भी मिल जाती है। इन सबके अतिरिक्त कुलपति मिश्र के दोहे पर कुछ विशेष ध्यान देने की और आवश्यकता है। उसमें जो 'केशव केशवराय'

पद आया है वह ज्यों का त्यों बिहारी के दोहा में भी मिलता है। मिश्रजी के दोहे में इस पद का दोहरा अर्थ खींचतान से ही हुआ माना जायगा। देखिए—

कबिबर मातामह सुमिरि, केसव केसवराय।
कहौं कथा भारत्थ की भाषा-छंद बनाय॥

'केशव' (कृष्ण या बिष्णु) के समान 'केशवराय' कहने की यहाँ कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि यह पूरा का पूरा पद उनके मातामह का नाम था। ऐसा नाम अद्भुत अवश्य कहा जा सकता है, पर असंभव नहीं। बिहारी के दोहे में भी 'केशव केशवराय' पद का ज्यों का त्यों मिलना अवश्य रहस्यपूर्ण है। यदि यह नाम है तो दोनों दोहों में जो दोहरे अर्थ लगाए जायँगे वे अधिक चमत्कार उत्पन्न करनेवाले होंगे। आलंकारिक 'निरुक्ति' अलंकार या बढ़िया श्लेष देखकर मुग्ध हो जायँगे। सहूलियत के लिए बिहारी का दोहा भी सामने रख लीजिए—

प्रगट भए द्विजराज-कुल सुबस बसे ब्रज आय।
मेरे हरौ कलेस सब केसब केसबराय॥

यह नाम हो सकता है, इसका प्रमाण यही है कि 'केशव केशवराय' नाम के एक कवि की कविता ही मिलती है। उनका नाम 'मिश्रबंधु-विनोद' में तो नहीं आया है, पर हमारे मित्र काशीनिवासी बा० ब्रज-रत्नदासजी के पास एक हस्तलिखित पोथी में उनके चार छंद दिए हुए हैं। उन छंदों के आरंभ में 'शीनामा' यह दिया गया है—'अथ केसौ केसौराइ कृत लिषते'। इसके बाद जो कविता लिखी गई है उसमें सब जगह कवि का नाम 'केसो केसौराइ' ही आया है। कविता भी उत्तम है और शृंगार रस की ही है। यहाँ पर जिज्ञासुओं के अवलोकनार्थ वे चारों छंद उद्धृत किए जाते हैं—

कवित्त

लागी चटपटी अटपटी सब बातैं कहै,
लटपटी भई जाति, प्रान गए पिय मैं।

'केसौ केसौराइ' कहूँ बारक बिलोकि आई,
तब ही तें देखिये न हियो रह्यो हिय मैं ॥
आन कहै आन करै आन हाथ पाइ भई,
अनँग के अनष न सुधि रही तिय मैं ।
सीरो जानि तातो करै, तातो जानि सीरो करै,
दूध न जमायो जाइ नेहु जाम्यो जिय मैं ॥
लोक-लोहू रहै नाहिं, लाज न लहरि लागै,
कुल-उरवाइगी बिलोकै ही नसतु है ।
अपजस-नींब आली ! नैकु-करुवाई नाहिं,
काकी परवाह प्रान लैबे कौ हँसतु है ॥
'केसौ केसौराइ' पैंड पैंड पर भेंट होति,
बचिबो कहाँ तैं, ब्रज-बीथिन बसतु है ।
मनि-मोरचंद्रिका, बजायो बिनु बाँसुरी सो,
कारो ढोटा काहू को है कारे लौं डसतु है ॥

सवैया

को बरजै गई नैहर सासु री भौन के भीतर मेलि मढ़ी ही ।
कानन जान दई जननी लरिकापन तें जौ लौं बैस बढ़ी ही ॥
देखतैं 'केसव केसवराइ' तौ है निपुनै वैऊ कोक पढ़ी ही ।
छूटी उतै अचरा कितहू इहि बानक आजु ऐवान चढ़ी ही ॥
लेहुगी काहू के प्रान न लेहू हो ऐसे बिना कहा नाँव कढ़ैगौ ।
नोषी भई तुम ही नई नारि, कहा तुम सी बिधि फेरि गढ़ैगौ ॥
'केसव केसवराइ' बुरी बुनि लोग तिहारोई नाँव रढ़ैगौ ।
बैठि रहौ घरघालनहारि अटा न चढ़ौ कोऊ मूड़ चढ़ैगौ ॥

इन उदाहरणों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि 'केशव केशवराय' नाम होना केवल संभव ही नहीं है, उस नाम के कोई कवि वस्तुतः थे। अब देखना यह चाहिए कि क्या इन 'केशव केशवराय' का बिहारी से कोई संबंध स्थापित हो सकता है ? कथित हस्तलिखित पोथी में केवल इन्हीं के चार छंद नहीं हैं, उसमें कई और पुस्तकें भी हैं। इनमें से एक

में लिपिकार का नाम, लिपि करानेवाले का नाम और लिपि का समय, तीनों बातों का उल्लेख है। पोथी उतारनेवाले हैं कोई मनोहर, यह लिखी गई है किन्हीं रामजी चिरंजीव के लिये। लिपिकाल सं० १७६३, फाल्गुन कृष्ण ७, बुधवार दिया हुआ है। इसलिए इसमें जितने कवियों कविताएँ उतारी गई हैं वे सब उस समय से पहले के ही होंगे। इस प्रति में जितनी पुस्तकें जिन जिन कवियों की हैं उनका ब्यौरा नीचे दिया जाता है—

१—सुदामा-चरित—कमलानंद कृत (आरंभ के पन्ने नहीं हैं)।

२—शुक-संवाद—खेम-कृत।

३—सुंदर-संग्रह—सुंदरदास। (लिपिकाल सं० १७६३)।

४—नाम-प्रताप-प्रसाद—अग्रदास-कृत।

५—धर्म-कर्म-संवाद—अज्ञात।

६—गुण-अच्छर-माला—अज्ञात।

७—बाँसुरी—अज्ञात।

८—केशव केशवराय के चार छंद (ये ऊपर उद्‌धृत किए गए हैं)।

९—एक सवैया—अज्ञात।

१०—छीहल-बावनी—छीहल (खंडित)।

जो ब्यौरा ऊपर दिया गया है उसमें जिस पुस्तक या रचना के सामने 'अज्ञात' लिखा है उसके कवि का कहीं पता नहीं लगता। शेष कवियों में से 'कमलानंद' का हमें पता नहीं। अन्य सभी कवि ज्ञात हैं। खेम का समय सं० १६३०, सुंदरदास का १६५३, अग्रदास का १६३२ और छीहल का १५७५ है। संवतों का यह ब्यौरा देखने से इस पोथी में सं० १६५३ या उससे कुछ पहले के ही ज्ञात कवियों की कविता है, इससे इधर के कवियों की नहीं। इस साहचर्य से यह कल्पना की जा सकती है कि जिन कवियों का नाम अज्ञात है अथवा जिनका नाम तो ज्ञात है, पर समय का पता नहीं चलता, वे भी उसी समय के लगभग के कवि होंगे। अगर यह कल्पना की जा सके तो 'केशव केशवराय' का समय भी उसीके लगभग माना जायगा। ऐसा मान लेने पर उनका समय

१६५० के आसपास पड़ेगा। बिहारी का जन्म सं० १६५२ में माना जाता है, इसलिए 'केशव केशवराय' का समय बिहारी से पहले हुआ।

अनुमान की कच्ची जोड़ाई से खड़े किए गए इस महल का लेखा यदि ज्यों का त्यों मान लिया जाय तो फिर यह कल्पना बड़े मजे में की जा सकती है कि संभवतः बिहारी के पिता ये ही 'केशव केशवराय' रहे हों। हम अपनी बात को पक्का मानने का अनुरोध तो नहीं कर सकते, पर इतिहास के विद्वानों से इस बारे में अनुसंधान करने का अनुरोध अवश्य करेंगे। बहुत संभव है कि इस कल्पना में सत्यता ही सत्यता हो। हमें तो इस संबंध में अधिक आशा दिखाई पड़ रही है, पर विषय अधिक अनुसंधान-सापेक्ष है, इसी से जोर देने का साहस नहीं किया गया।

प्रस्तुत पुस्तक शुद्ध समीक्षा को दृष्टि में रखकर लिखी गई है और इसमें बिहारी की मूल विशेषताओं के उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है। हमें आशा है कि बिहारी की शुद्ध समीक्षा के अभाव के कारण उनकी सतसई का अध्ययन करनेवालों, विशेषतः विद्यार्थियों को जो कठिनाई पड़ती थी, उसमें यह कुछ सहायता अवश्य करेगी। पुस्तक लिखते समय दृष्टि के सामने विद्यार्थियों की आवश्यकताएँ थीं इसीसे इस पुस्तक में बहुत-सी बातें ऐसी लिखी गई हैं जो जानकारों के समक्ष पिष्टपेषण या पुनरुक्ति समझी जा सकती हैं। इसके लिए हमें क्षम्य समझना उनका भी धर्म है।

अंत में हम उन सभी लेखकों, टीकाकारों, आलोचकों आदि का हृदय से आभार स्वीकार करते हैं जिनके ग्रंथों से इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में हमें किसी प्रकार की छोटी से छोटी सहायता भी मिली है। सबसे अधिक कृतज्ञ हम अपने श्रद्धेय आचार्य पं० रामचंद्रजी शुक्ल के हैं, जिनकी लिखित और कथित बातों का भी निःसंकोच उपयोग किया गया है। स्वर्गीय पं० अम्बिकादत्त व्यास और बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के भी हम ऋणी हैं क्योंकि 'सतसई संबंधी-साहित्य' नामक प्रकरण इन्हीं महानुभावों के ग्रंथों एवं लेखों के आधार पर लिखा गया है। 'रत्नाकर'

जी की रचनाओं से हमें और भी बहुत-सी ज्ञातव्य बातें मिली हैं। इस पुस्तक में दोहों का पाठ और उनकी संख्या भी 'बिहारी रत्नाकर' से ही ली गई है, क्योंकि अब वही संस्करण प्रामाणिक माना जाता है। यद्यपि शब्दों के रूपों के संबंध में हमारा कुछ मतभेद है किंतु पाठकों की सहूलियत के विचार से पाठ उसी का रखा गया है। उक्त सभी महानुभावों के प्रति हम पुनः विनम्र भाव से कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं और विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि वे त्रुटियों के लिए क्षमा करते हुए जो भी समुचित परामर्श देंगे उसके लिए हम सदा प्रस्तुत रहेंगे।

रथयात्रा, १९९३ वि०
ब्रह्मनाल, काशी। } —विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्रकरण-सूची

१—संक्षिप्त जीवनी	...	१—७
२—तत्कालीन लोकरुचि	...	८—१३
३—शृंगार-भावना	...	१४—२२
४—मुक्तक-रचना	...	२३—३०
५—बाहरी प्रभाव	...	३१—३८
६—सतसई की परंपरा	...	३९—४७
७—प्रसंग-विधान	...	४८—५८
८—दोहे की समास-पद्धति	...	५९—६६
९—बिहारी की जानकारी	...	६७—७४
१०—अलंकार-योजना और अप्रस्तुत-विधान	...	७५—८९
११—रूप-चित्रण और अनुभाव-विधान	...	९०—१०१
१२—प्रेम का संयोग-पक्ष	...	१०२—११९
१३—विप्रलंभ एवं विरह-वर्णन	...	१२०—१२८
१४—भक्ति-भावना	...	१२९—१३४
१५—भाव-व्यंजना	...	१३५—१४१
१६—वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य	...	१४२—१४८
१७—भाषा	...	१४९—१७२
१८—दोष-दर्शन	...	१७३—१७९
१९—बिहारी का प्रभाव	...	१८०—१८८
२०—बिहारी-संबंधी-साहित्य	...	१८९—२०९
२१—उपसंहार	...	२१०—२१३
२२—नामानुक्रमणिका	...	२१४—२२०

बिहारी की वाग्विभूति

संक्षिप्त जीवनी

बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था।[1] इनके पि
केशवराय था।[2] ये धौम्यगोत्री सोती घरबारी माथुर चौबे
जन्म संवत् १६५२ में हुआ था।[4] इनके एक भाई और

---

१. जनम ग्वालियर जानियै, खंड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

यह दोहा बिहारी का ही रचा कहा जाता है। संभव है, यह
के किसी जानकार का लिखा हो।

कुछ लोग बिहारी का जन्मस्थान मथुरा मानते हैं (—राधाचर
और कुछ लोग बिहारी का जन्मस्थान बसुआ गोविंदपुर मानते हैं (
किंतु मथुरा उनकी ससुराल थी और 'गोविंदपुर' बिहारी के भानजे
को मिला था, बिहारी को नहीं।

२. प्रगट भए द्विजराजकुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ॥—

इसमें 'राय' शब्द के कारण, ग्रियर्सन साहब बिहारी को भ
(लाल चंद्रिका, भूमिका, पृष्ठ ४), पर केशवदासजी यद्यपि सना
तथापि उन्होंने कई स्थानों पर अपने छंदों में अपने को 'केसौराय
इसलिए केवल 'राय' शब्द के आधार पर बिहारी को भाट कहना ठी

३. बिहारी-बिहार, भूमिका।

४. संबत जुग सर रस सहित, भूमि रीति जिन लीन्ह।
कातिक सुदि बुध अष्टमी, जन्म हमहि बिधि दीन्ह।
—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जनवरी

इस दोहे की रचना बिहारी की स्वयं की हुई-सी दिखाई गई है
किसी टीकाकार या अन्य व्यक्ति की रचना जान पड़ती है। ज्योति
और दिन का मिलान नहीं होता, किंतु 'रत्नाकरजी' ने माना है कि लि

थी।[१] कहा जाता है कि बिहारी के पिता इनके जन्म के ७-८ वर्ष बाद ग्वालियर छोड़कर ओड़छे चले गए। वहीं इन्होंने प्रसिद्ध कवि केशवदासजी से काव्यग्रंथों का अध्ययन किया। ओड़छे के पास ही गुढौ ग्राम में एक महात्मा नरहरिदासजी रहा करते थे। ये निधिवन की गद्दी के महंत श्रीसरसदेव के शिष्य थे।[२] बिहारी के पिता इन्हीं नरहरिदासजी के शिष्य हो गए।[३] बिहारी ने वहाँ रहकर काव्यग्रंथों और संस्कृत, प्राकृत आदि का अध्ययन किया।

जब सं० १६६४ के आसपास ओड़छे के इंद्रजीत का रागरंग नष्ट-भ्रष्ट हो गया तो केशवदासजी वहाँ से गंगातट पर जाकर रहने लगे।[४] इसलिए बिहारी के पिता भी उस स्थान को छोड़कर व्रज की ओर चले गए और वृंदावन में जाकर रहने लगे। बिहारी ने वहाँ जाकर और अध्ययन किया तथा संगीत का भी अभ्यास किया। वहीं के रहनेवाले एक प्रसिद्ध माथुर ब्राह्मण के यहाँ बिहारी की बहिन की शादी हो गई।[५]

अंदाज से ऐसा लिख दिया होगा; पर संवत् में अधिक भूल की जगह नहीं है, इससे उसे ठीक मान लेना चाहिए।

१. ना० प्र० प० (नवीन०), भाग ८, अंक २, पृष्ठ १३०।

२. निजमतसिद्धांत।

३. ना० प्र० प० (नवीन०), भाग ८, अंक २, पृष्ठ १३१। 'रत्नाकरजी' का कहना है कि बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में 'नरहरि' शब्द उक्त महात्मा के ही लिए श्लेष से प्रयुक्त किया है—

जम-करि-मुँह-तरहरि परयौ, इहिं धरहरि चितु लाउ।
बिषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥ —२१।

४. बृत्ति दई पुरुषानि की, देउ बालकनि आसु।
मोहिं आपनो जानि कै, गंगातट देउ बासु॥
बृत्ति दई पदवी दई, दूरि करौ दुख त्रास।
जाइ करौ सकलत्र श्रीगंगा तट बस-बास॥—विज्ञानगीता, २१–५६, ५७।

५. कुलपति मिश्र बिहारी के भानजे थे। उन्होंने 'संग्राम-सार' के आरंभ में एक दोहा लिखा है, जिसमें उन्होंने भी अपने नाना का नाम 'केशवराय' कहा है—

बिहारी का विवाह भी मथुरा में ही किसी माथुर ब्राह्मण के यहाँ संपन्न हुआ। विवाह होने के पश्चात् ये अपनी ससुराल में ही रहने लगे। उसी समय के लगभग (सं० १६७५) शाहजहाँ वृंदावन गया था। उसने लोकविश्रुत नरहरिदासजी के दर्शन किए। शाहजहाँ के समक्ष होनहार बिहारी की महात्माजी ने प्रशंसा की। इनकी प्रतिभा देखकर शाहजहाँ ने इन्हें आगरे में आकर रहने के लिए कहा। कहा जाता है कि बिहारी आगरे चले गए।[1] वहाँ उन्होंने उर्दू-फारसी का भी अभ्यास किया और प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना से भी उनकी भेंट हुई। उनकी प्रशंसा में भी बिहारी ने कुछ दोहे कहे।[2] कहा जाता है कि बिहारी की कविता पर प्रसन्न होकर खानखाना साहब ने उन्हें बहुत कुछ पुरस्कार दिया।

सं० १६७७ में शाहजहाँ के किसी उत्सव में भारत के बहुत-से राजा-महाराजा आमंत्रित हुए। उस समय बिहारी की काव्य-प्रतिभा को देखने का अवसर उन नरेशों को मिला। इनकी कविता पर प्रसन्न होकर उन लोगों ने इनकी वार्षिक वृत्ति बाँध दी। इधर सं० १६७८ में नूरजहाँ की कुटिलता के कारण बादशाह जहाँगीर और शाहजादा शाहजहाँ के बीच कुछ मनमुटाव हो गया। इसलिए शाहजहाँ आगरे से हटकर रहने लगा। शाहजादा के कृपापात्र बिहारी की स्थिति भी उस समय डाँवाडोल हो गई और वे इधर-उधर हट-बढ़कर रहने लगे। वे नियमानुसार कुछ राजाओं के यहाँ वृत्ति लेने के लिए प्रतिवर्ष आया-जाया करते थे। उनका

कबिबर मातामह सुमिरि, केसव केसवराइ।
कहौं कथा भारत्थ की, भाषा-छंद बनाइ॥

कुलपति मिश्र के पिता का नाम परशुराम मिश्र था।

१. श्रीनरहरि नरनाह कौं, दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन-आगरैं आगरैं, रहत आइ सुखु पाइ॥
—ना० प्र० प० (नवीन०), भाग ८, अंक १, पृष्ठ ११८।

२. गंग गोंछ मोछैं जमुन, अधरनु सरसुति-रागु।
प्रगट खानखानानु कैं, कामद बदन प्रयागु॥—वही, पृष्ठ ११८।
कुछ लोग इसे गंग कवि का रचा भी कहते हैं।

जाना जोधपुर और बूँदी में भी कहा जाता है। वे आगरे भी जाया करते थे। सं० १६६१-६२ के लगभग वे जब अपनी वृत्ति लेने के लिए आमेर गए हुए थे तो पता चला कि तत्कालीन नरेश महाराजा जयसिंह एक नयी ब्याह लाई हुई रानी के प्रेम में मुग्ध होकर महल के भीतर ही पड़े रहते हैं। उन्होंने राज के कार्यों को सँभालना भी छोड़ दिया है। उन्होंने यह आज्ञा भी कर दी है कि यदि कोई उनके रंग में भंग करेगा तो उसकी खैरियत नहीं। इसलिए किसी की हिम्मत उनसे कुछ कहने-सुनने की नहीं पड़ती थी। उनकी प्रधान महारानी श्रीअनंतकुमारी, जो चौहानी रानी के नाम से प्रसिद्ध थीं, इस घटना के कारण बड़ी व्यग्र थीं। बिहारी ने अपना समाचार राजा तक पहुँचाने का बहुत उद्योग किया, पर किसी की हिम्मत न पड़ी। अंत में बिहारी को एक युक्ति सूझी और उन्होंने अपनी कविता के प्रभाव से महाराज को सचेत करने की ठानी। उन्होंने बड़ा उद्योग करके निम्नलिखित दोहा महाराज के निकट पहुँचवाया—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली! कली ही सौं बँध्यो, आगैं कौन हवाल॥—३८।

इस दोहे की रहस्यमय उक्ति ने महाराज को सचेत कर दिया और वे तुरत महल छोड़कर बाहर निकल आए। उन्होंने प्रसन्न होकर बिहारी को बहुत-सा पुरस्कार दिया और कहा कि यदि आप इसी प्रकार कविता बनाकर मुझे सुनाया करें तो आपको प्रति छंद एक मोहर पुरस्कार-स्वरूप मिला करेगी। बिहारी ने यह आदेश स्वीकार कर लिया। चौहानी रानी को जब इस बात का पता लगा तो वे बहुत आनंदित हुईं और उन्होंने प्रसन्न होकर बिहारी को 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम दिया। उन्होंने बिहारी-संबंधी उस घटना का एक चित्र भी बनवाया।[1]

जिस समय बिहारी वहाँ पहुँचे थे उस समय चौहानी रानी गर्भवती थीं। कुछ ही महीनों में उनके गर्भ से कुमार रामसिंह ने जन्म ग्रहण किया। उस अवसर पर बड़ा उत्सव हुआ। बिहारी ने भी कुछ दोहे उस

---

१. वही, पृष्ठ १०७।

अवसर के कहे।[1] एक बड़ा दरबार 'दर्पण-मंदिर' में किया गया।[2] इसी समय के आसपास जयसिंहजी ने कोई छोटी लड़ाई भी लड़ी थी और 'लाखन'[3] नाम के व्यक्ति को मार भगाया था। उसका वर्णन भी इन्होंने अपनी कविता में किया।[3] अब बिहारी आमेर दरबार के राजकवि होकर अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करने लगे। कुछ समय बाद जब कुमार रामसिंह बड़े हुए तो चौहानी रानी के कहने से बिहारी ने ही कुमार का विद्यारंभ-संस्कार कराया। कुमार के पढ़ने के लिए बिहारी ने, उस समय तक इनके जितने दोहे बने थे उन्हें एकत्र करके, संग्रह बना दिया। इसके साथ ही इन्होंने उसमें अन्य कवियों के दोहे भी संग्रह कर दिए।

बिहारी के कोई संतान नहीं थी। इसलिए उन्होंने अपने भतीजे 'निरंजन' को अपना पुत्र बना लिया।[4]

बिहारी बहुत बड़े रसिक जीव थे, यह बात उनके दोहों से साफ लक्षित होती है। पर उनकी रसिकता नागरिक जीवन की रसिकता थी, यह भी मानना पड़ेगा। यद्यपि उन्होंने अपने काव्य के लिए वर्ण्य विषय

---

१. चलत पाइ निगुनी गुनी, धनु मनि-मुत्तिय-माल।
भेंट होत जयसाहि सौं, भागु चाहियतु भाल॥—१५६।

२. प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति, दीपति दरपन-धाम।
सब जगु जीतन कौं करयौ, काय-ब्यूहु मनु काम॥—१६७।

३. रहति न रन, जयसाहि-मुखु लखि, लाखनु की फौज।
जाँचि निराखरऊ चलै, लै लाखनु की मौज॥—८०।

४. जनश्रुति के अनुसार बिहारी के एक पुत्र कृष्णलाल का होना माना जाता है। उन्होंने बिहारी-सतसई पर अपनी सवैयों वाली टीका भी लिखी है। रत्नाकरजी का कहना है कि संभवतः निरंजनजी का नाम निरंजनकृष्ण रहा होगा, क्योंकि बिहारी के वंशजों के नाम में 'कृष्ण' शब्द बराबर नाम के अंत में मिलता है। इस प्रकार के नाम प्रायः खंडित होकर आधे-आधे भी पुकारे जाते हैं। इसलिए कोई उन्हें 'निरंजन' कहता रहा होगा और कोई 'कृष्ण'। अतः ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं। —ना० प्र० प० (नवीन०), भाग ८, अंक २, पृष्ठ १५०।

जीवन की सामान्य लोक-भूमि से ही लिया था, और यदि उनके अप्रस्तुत-विधानों पर विचार किया जाय तो भी वे—परंपरागत कुछ रूढ़ियों को छोड़कर—सामान्य जीवन से ही संगृहीत जान पड़ते हैं; तथापि उनका जीवन एक नागरिक जीवन था, क्योंकि साधारण जीवन के माधुर्य में उनकी वृत्ति वैसी जमी नहीं। वे बराबर 'नागरता के नाम' पर रोते ही रहे। इनका स्वभाव भी नागरिकों का-सा ही विनोदी और व्यंग्यप्रिय था। भगवान् से न तारने के लिए अड़ने की उक्ति से यह भी लक्षित होता है कि ये बड़े मस्त जीव थे। कहन की यह वक्रता, इनके स्वभाव की वक्रता का भी संकेत करती है।

नागरिक जीवन में अथवा विभिन्न स्थानों पर आने-जाने में इन्हें अवसर-अवसर पर कटु अनुभव भी प्राप्त हुए थे। इनकी कविता के द्वारा उसका भी संकेत मिलता है। नीति की उन थोड़ी-सी उक्तियों को कवि की अनुभूत घटनाओं की व्यंजना-मात्र समझना चाहिए। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे कर दिया जाता है।

> आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
> घरहँ जँवाइ लौं घट्यौ, खरौ पूस-दिन-मानु ॥—१७१।

इसमें बिहारी ने घरजमाई अर्थात् ससुराल में रहनेवाले दामाद के निस्तेज होने का उल्लेख किया है। उनकी जीवनी से पता चलता है कि वे अपनी ससुराल में रहा करते थे। इस प्रकार का अनुभव उनका अपना अनुभव है।

नीचे दो चार उदाहरण ऐसे देते हैं जिनसे कवि के हृदय की व्यथा बहुत साफ लक्षित होती है, और वह उसके जीवन से ही संबंधित है इसे भी मानना पड़ेगा—

> हरि! कीजति बिनती यहै, तुम सौं बार हजार।
> जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार ॥—२४१।

इस दोहे से यह स्पष्ट झलकता है कि कवि संसार की किसी विशेष घटना के कारण क्षुब्ध होकर ऐसा कह रहा है।

> बढ़त बढ़त संपति-सलिलु, मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
> घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥—३३१।

यह उक्ति या तो बिहारी ने अपने धनाभाव के संबंध में कही होगी या किसी बिगड़े रईस पर।

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु दान ॥—३८१।

किसी दुष्ट के उच्च पद पाकर संमानित होने को लक्ष्य कर यह उक्ति कही गई है।

समै-पलट पलटै प्रकृति, को न तजै निज चाल।
भौ अकरुन करुनाकरौ, इहिं कपूत कलिकाल ॥—६६१।

किसी आपत्ति में भगवान से प्रार्थना करने पर भी दुःख के दूर न होने पर यह उक्ति कही गई है। इसमें कवि के हृदय की वह खीझ साफ व्यंजित होती है।

इन उदाहरणों से कवि के स्वभाव और उसकी परिस्थिति का थोड़ा बहुत अंदाज लगाया जा सकता है। मुक्तक-काव्य की रचना करनेवालों की नीति-संबंधी उक्तियाँ उनके सांसारिक जीवन से विशेष संबंध रखती हैं। जिनमें अनुभूति की मात्रा विशेष होती है और जिन्हें लोक के भीतर बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ा सकने का अवसर प्राप्त होता है वे ही इस प्रकार की सूक्तियाँ लिख सकते हैं। रहीम की ऐसी रचनाओं में जो रसात्मक अनुभूति पाई जाती है उसका कारण उनका लोक-व्यवहार के मेल में होना ही है। बिहारी की ये उक्तियाँ भी उनके अनुभव के परिणाम-स्वरूप ही बनी होंगी, इसमें संदेह नहीं। अतः इनमें कवि के जीवन को लक्षित करने का प्रयत्न करना ठीक ही कहा जायगा।

बिहारी सं० १७२० के आस-पास परलोकवासी हुए।[1]

---

१. संबत ग्रह ससि जलधि छिति, छठि तिथि बासर चंद।
चैत मास पख कृस्न मैं, पूरन आनँद-कंद ॥

यह दोहा सतसई-समाप्ति का समय (सं० १७१९) बतलानेवाला माना जाता है, पर 'रत्नाकरजी' ने इसे कृष्णलाल की गद्य-टीका का समय माना है। क्योंकि यह तीन प्राचीन टीकाओं में ही मिलता है, सभी में नहीं। —वही, पृष्ठ ११५।

तत्कालीन लोकरुचि

अकबर की शासन-व्यवस्था के अनंतर भारत में मुगलों का साम्राज्य दृढ़ हो गया, मुसलमानों के पैर यहाँ भली भाँति जम गए। मुसलमान भारत को अपना देश समझने लगे और यहाँ के निवासियों से हृदय की वृत्तियों का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न भी कुछ-कुछ सफल हो गया। मुसलमानों के आगमन से जो विप्लव उठ खड़ा हुआ था उसकी शांति बहुत पहले से ही हो चली थी। राजपूत जाति अपनी बिखरी हुई शक्ति का पराजय स्वीकार कर चुकी थी। अब उसमें वह शौर्योन्मेष दिखाने का हौसला नहीं रह गया था। यद्यपि हिंदू और मुसलमान जातियों की वृत्तियों के मेल का प्रयत्न अलाउद्दीन के राज्यकाल के ही पीछे से होने लगा था, पर राजकीय उपप्लव और राजपूतों की शक्ति के प्रदर्शन कभी-कभी देश में अशांति की लहरें उठा देते थे और इस प्रयत्न में बाधाएँ आ खड़ी होती थीं। किंतु पददलित जाति, अपने गौरव एवं एकत्व को भूल बैठनेवाली हिंदू जाति, बहुत दिनों तक विदेशियों की संघटित शक्ति का सामना नहीं कर सकी, उसे नतमस्तक होना ही पड़ा। अकबर ने अपनी कूटनीति के द्वारा राजपूतों से संबंध स्थापित कर विजित जाति की प्रीति का सपादन भी कर लिया। यद्यपि वीरकेसरी महाराणा प्रताप ने उसके विरोध में अपनी आवाज ऊँची की, पर उनका दुस्साहस संघटित रूप के अभाव में अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ। उनके अनंतर एक प्रकार से उत्तरापथ में मुसलमानों का अबाध साम्राज्य निर्विरोध स्थापित हो गया। बहुत दिनों से रण-संघर्ष में संलग्न रहकर अपने बल का ह्रास करनेवाली जाति विश्राम एवं वैराग्य की ओर झुकी। जहाँगीर और शाहजहाँ का शासन शांति की क्रोड़ में ही चलता रहा। इस शांति के फल-स्वरूप कोई प्रतिवर्तन उत्तरापथ में नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ के लोग अपनी शक्ति को एकदम भूल बैठे थे। आगे चलकर औरंगजेब

के कठोर शासन के प्रतिवाद में जो भीषण प्रतिवर्तन की ध्वनि सुनाई पड़ी वह सुदूर दक्षिण से ही।

शाहजहाँ के समय तक दोनों जातियाँ बहुत कुछ साम्य स्थापित करने की ओर अग्रसर हो चुकी थीं। कबीर बाबा के उद्योग और सूफी कवियों के प्रयत्न से दोनों जातियों के बीच प्रेम का सूत्र भी पहले से ही जुड़ने लगा था। विदेशी भावों का प्रभाव भी देश में फैल रहा था। अकबर ने गुणियों का आदर करके दिल्ली का फाटक सबके लिए खोल दिया था। संमान एवं धन के लोलुप विद्वान् दिल्लीश्वर की जी-हुजूरी करने के लिए दिल्ली का रास्ता नापने लगे थे। राजपूतों के छोटे-छोटे राज्य अवसाद मिटाने में लगे थे। विश्राम की निद्रा में इन्होंने धीरे-धीरे शृंगार के स्वप्न भी देखने आरंभ कर दिए। राज-दरबार प्राचीन काल में शृंगार और शौर्य दोनों के केंद्रस्थल हुआ करते थे। अब वे केवल शृंगार के केंद्र बनने लगे। मुसलमानों ने यहाँ जमकर अपनी विलासिता और शृंगार का भी प्रसाद लोगों में बाँटना आरंभ किया। धीरे-धीरे मुसलमानी हवा हिंदुओं के हृदय में घर करने लगी और उसने शृंगार की अग्नि में और उद्दीप्ति उत्पन्न कर दी।

कलियुगी भावों का जो चित्रण बाबा तुलसीदास कर चुके थे,[1] उसमें कमी नहीं हुई। भगवान की उपासना के जो क्षेत्र खोले गए उनमें से लीलापुरुषोत्तम की उपासना में शृंगार का बहुत अधिक रंग चढ़ गया। कवियों ने जब इस स्वरूप का निरूपण आरंभ किया तो वे 'राधा-कन्हाई के सुमिरन' का बहाना करके घोर से घोर शृंगार, यहाँ तक कि विपरीत आदि के अश्लील वर्णन भी, साहित्य के भांडार में ठूँस-ठूँसकर भर ही तो दिए। उपासना का आवरण पहने जो शृंगारी कविता हिंदी में प्रचलित हुई उसका लगाव पीयूषवर्षी जयदेव से है। वही विद्यापति और सूर आदि व्रजवासी कवियों से होती हुई अपना प्रसार करती रही है। पर नायिकाभेद की दीवार पर जो चित्रकारी हुई है उसका लगाव एक ओर तो प्राकृत एवं अपभ्रंश की गाथाओं से है और दूसरी ओर नाट्य-

१ रामचरित-मानस, उत्तरकांड, ९६-१०२।

शास्त्र के ग्रंथों में निरूपित रस एवं तदंतर्गत शृंगार के आलंबन एवं उद्दीपन से। जो बातें इस उद्देश्य से लिखी गई थीं कि अभिनय करते समय नट अपनी मुद्राओं और वृत्तियों पर उन सिद्धांतों के आधार पर शासन करे, उन्हें आगे चलकर लोगों ने एक स्वतंत्र ही स्वरूप दिया[१] और हिंदी में नायक-नायिकाभेद के ही उदाहरण प्रस्तुत होने लगे। यद्यपि बिहारी की कविता उन नायिकाभेदवाले कवियों के अंतर्गत नहीं आती, क्योंकि उसकी परंपरा प्राकृत एवं अपभ्रंश की गाथाओं, दूहा आदि से सटी चली आई है, तथापि उसमें नायिकाभेद की दृष्टि से निर्मित छंदों का भी अभाव नहीं है। तत्कालीन प्रवृत्ति के प्रभाव से लोगों ने उसके अंत:शीर्षक भी वैसे ही बाँधे हैं और दोहों की व्याख्या भी उसी ढंग से की है।

जिस समय बिहारी का आविर्भाव हुआ उस समय रजवाड़ों की क्या स्थिति थी, यह तो उनके उस प्रसिद्ध दोहे 'अली कली ही सौं बँध्यौ' से ही स्पष्ट लक्षित हो जाता है। समाज की कैसी स्थिति थी, इसकी झलक उनकी कविता में यद्यपि बहुत साफ नहीं है, पर मिलती अवश्य है। लोभ, कपट, दंभ एवं पाखंड की वृद्धि हो रही थी। समाज में लोग लोभ के फेर में पड़कर निकृष्ट व्यक्तियों की भी सेवा कर रहे थे। अब कविता 'स्वान्त:सुखाय' न होकर 'स्वामिन: सुखाय' हो रही थी। साधारण व्यक्तियों की भी धन के लोभ से प्रशंसा करना, उनकी कीर्ति से इंद्र को कँपा देना, उनकी विद्वत्ता से बृहस्पति को पीला बना देना, उनकी सुंदरता देखकर कामदेव का जल मरना आदि तो मामूली बातें थीं। यह रोग इतना बढ़ा कि आगे चलकर देवदत्त ऐसे कवि को कहीं 'भवानी-विलास' की रचना करनी पड़ी तो कहीं 'कुशलविलास' की।

---

१ संस्कृत की 'रसमंजरी' केवल नायिकाभेद का ही निरूपण करनेवाली है। हिंदी में नायिकाभेद का प्रसार उसी को विशेष रूप से आधार मानकर हुआ है। अन्य ग्रंथों का आधार लोगों ने आगे चलकर लिया। नायिकाभेद के ग्रंथों को देखने से पता चलता है कि इस प्रकार के निरूपण की प्रथा पुरानी है, क्योंकि रसमंजरी-कार भानुदत्त अपने ग्रंथ में यथास्थान 'प्राचीनलेखनात्' का प्रयोग भी करते हैं।

लोभ का चश्मा लगाकर लोग छोटों को भी बड़ा देख रहे थे।[1] जब आँख ही ठीक न रही, हृदय की आँखों का भी पानी ढल गया तो निकृष्टसेवा का बढ़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

'कपूत कलिकाल' ने सबपर अपना ऐसा रंग चढ़ा दिया था कि सिवा भाग्य ठोंकने के लोग और कर ही क्या सकते थे?[2] कपट के कपाटों के लग जाने से[3] लोगों ने सच्ची भगवदुपासना छोड़ दी थी, केवल बाहरी चिह्नों—माला, मुद्रा, तिलक आदि—को ही पकड़ रखा था।[4] अंतःकरण में शुद्ध भक्ति का उद्रेक बहुतों में नहीं होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जो सीधे थे, सौम्य थे, जिनमें निष्कपटता का भाव था उन्हें तो कोई पूछता ही नहीं था, पर जिनमें चातुर्य था, जो अपनी कला से दूसरों को रिझा सकते थे, उनका सभी जगह संमान होता था।[5] धार्मिक क्षेत्र में भी यही विप्लव था। लोग अपना-अपना मतवाद लेकर उसी के समर्थन में लगे रहते थे।[6] सांप्रदायिकता का विष फैल रहा था, समन्वय का प्रयत्न ढीला पड़ रहा था।

प्रजा यद्यपि रण-विप्लव की भीषणता से निश्चिंत हो रही थी, पर भीतरी अकांड तांडवों से उसका चित्त व्यग्र था। हिंदू अपने ही भाइयों के विरुद्ध कपटाचार कर रहे थे।[7] 'दुराज' में पड़कर जनता दोनों ओर से पिस रही थी।[8] इधर देशी राजाओं से और उधर मुसलमानो सूबेदारों से। राजाओं का दलन रोग और पातकों-सा भीषण होता था।[9] सूबेदारों के दबाव के मिल जाने से तो चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई पड़ता था, कहीं भी शरण नहीं थी। लोग 'नीति-गलित' होकर संपत्ति जोड़ने में लगे थे, प्रजा पिस रही थी।[10] बड़ों की भूल के विरोध में कोई आवाज उठा ही नहीं सकता था।[11] वे लोग जो कुछ भी कर रहे थे उसे स्वीकार ही करना पड़ता था; चाहे रजामंदी से, चाहे जबरन। इसीलिए प्रजा बाहरी शांति का ठाट देखकर भी अपनी

---

१. बिहारी-सतसई, १५१। २. वही, ६६१। ३. वही, ३६१। ४. वही, १४१। ५. वही, ३८१। ६. वही, ५८१। ७. वही, ३००। ८. वही, ३५७। ९. वही, ४२९। १०. वही, ४८१। ११. वही, ४३१।

प्रतिष्ठा बचाने की चिंता में थी। धन चाहे न मिले, किसी प्रकार पेट भर लिया जा सके, किंतु प्रतिष्ठा तो अवश्य बचनी चाहिए। भारत के हृदय ने अप्रतिष्ठा का कभी स्वप्न भी नहीं देखा, प्राण देकर भी प्रतिष्ठा की रक्षा की है। धन-संपत्ति तो एक बला है, अवगुणों की खानि है। उसके आते ही मनुष्य दूसरों को ठुकराना आरंभ करता है, दूसरे की प्रतिष्ठा को राह का ठीकरा समझता है। प्रतिष्ठा भूखों मरकर भी रखनी ही होगी। लोग यदुपति से यही प्रार्थना करते थे—

तौ अनेक औगुन-भरिहिं, चाहै याहि बलाइ।
जौ पति संपति हूँ बिना, जदुपति राखे जाइ॥—४२१।

इस संपत्ति को 'बिहारी' ने भी चाहा था, पर इन्होंने 'नीति गलित' होकर इसे नहीं चाहा। इन्होंने यह नहीं किया कि जिस किसी के दरबार में पहुँचे उसी की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक करने लगे। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'जग को वायु' इन्हें भी लगी।[1] इन्होंने यद्यपि अपने अनोखे 'कली-अली' के तीर की नोक से महाराज जयसिंह को अकर्मण्यता से खींचकर बाहर किया, किंतु उसके अनंतर इन्होंने उन्हें केवल शृंगार-चषक ही पिलाना आरंभ किया। वे दीक्षा के मूलमंत्र को भूलकर उनके कानों में यथावसर ऐसे-ऐसे महामंत्र भी फूँकने लगे—

परयो जोरु, बिपरीत रति, रुपी सुरत-रन-धीर।
करति कुलाहलु किंकिनी, गह्यौ मौनु मंजीर॥—१२६।

उस समय राज-दरबारों की रुचि का रुख किधर था, इसका पता बिहारी की कविता से साफ चल जाता है। आचार्य केशवदास ने लक्षण-ग्रंथों के निर्माण द्वारा शृंगार की स्थापना जोरों के साथ करके ऐसी प्रवृत्ति का आवाहन किया था, आगे चलकर उसने ऐसा भीषण रूप धारण कर लिया कि कवियों की रुचि ही बदल चली। कृष्ण-भक्ति के शृंगारी रूप ने तो सोने में सुहागे का काम किया। जनता नायिकाभेद का निरूपण सुनने लगी, भागवत और गीता का ज्ञान दूर चला गया। 'मानस' की ओर से अपने को 'रसिक' कहलवाने के लोभ ने मानस को

---

१. वही, ७१।

बरबस खींच लिया। राजदरबारों, धनियों और जमींदारों का शगल नायिकाभेद का निरूपण हुआ और कवियों की कला का स्वाहाकार परकीया के हावभावों के चित्रण में होने लगा। एक बार 'भूषण' ने इस घोर धारा के कगारे पर खड़े होकर डूबनेवालों को किनारे लगने का संकेत किया, पर यहाँ तो गुरुमंत्र मिल चुका था कि वे ही पार लग सकते हैं 'जे बूड़े सब अंग'।[1]

सब प्रकार के भावों का पंचामृत पीकर जो लोकरुचि हुई उसने भी 'बिहारी-सतसई' के अत्यधिक प्रचार में सहायता पहुँचाई है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। तात्पर्य यह कि 'समै-पलट पलटै प्रकृति'[2] का ही पाठ बिहारी पढ़ते रहे, उन्होंने 'प्रकृति' को स्वस्थ नहीं रखा। रोग और पातक की भाँति राजा की प्रकृति ने इनकी प्रकृति को भी धर दबाया। यदि बिहारी चाहते तो अभिभूत-हृदय नृपति को दूसरा मार्ग दिखा सकते थे, उन्हें शृंगार के कीचड़ से निकालकर फिर उसी के दलदल में न फँसाते।

---

१. वही, ६४। २. वही, ६६१।

शृंगार-भावना

भारतीय साहित्य में जब से मुक्तकों का प्रचार बढ़ा तभी से नीति की उक्तियों के साथ-साथ शृंगार की उक्तियाँ भी बढ़ने लगीं। मुक्तकों में रसाभिव्यक्ति का वैसा अवसर नहीं प्राप्त होता जैसा प्रबंध में। इसी से इसके शास्त्रीय अंगों के साथ ही साथ लोगों को रिझाने के लिए कवि लोग ऐसे-ऐसे वर्ण्य विषय भी काव्य में गृहीत करने लगे जो रस की पवित्र एवं व्यापक दृष्टि से शृंगार के आभास-मात्र थे, और कहीं-कहीं तो उन्हें विरोधाभास ही कहना समीचीन प्रतीत होता है। शृंगारी मुक्तकों का आधिक्य संस्कृत में ही हो चला था। प्राकृत और अपभ्रंश में आकर शृंगार की घोरता तो नहीं दूर हो पाई, पर काव्य का आलंबन उच्च वर्ग से हटकर साधारण जीवन बनने लगा। वर्ण्य विषय के इस विस्तार से कहने को एक विस्तृत क्षेत्र तो मिला, पर साथ ही ऐसी-ऐसी बातें भी आने लगीं जिन्हें, यदि रसिक बुरा न मानें तो, 'ग्राम्य' कहा जा सकता है। प्राकृत और अपभ्रंश की जिस परंपरा को पकड़कर बिहारी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का प्रयास किया है, उसी के प्रभाव के कारण इनकी कविता में थोड़े ऐसे प्रसंग भी आए हैं जो रस के विचार से अच्छे नहीं कहे जा सकते। विपरीत, सुरत आदि के वर्णन तो भद्दे हैं ही, साथ ही रति और वात्सल्य के मेल अथवा वात्सल्य का तिरस्कार कर रति का ही प्रधानता से प्रतिपादन करने के कारण कहीं-कहीं ऐसी ही भद्दी रुचि का और भी परिचय दिया गया है। उदाहरण के लिए यह दोहा लीजिए—

बिहँसि बुलाइ बिलोकि उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत कौ, पिय-चूम्यौ मुँहु चूमि ॥—६१७।

इस दोहे में नायिका बालक का मुख इसलिए नहीं चूमती कि उसके हृदय में वात्सल्य भाव है, बल्कि इसलिए चूमती है कि प्रियतम ने उसका चुंबन किया है। बालकों के प्रति माताओं के हृदय में जो कोमल

भावनाएँ स्वभावतः उठ सकती हैं उनका यहाँ पर कैसा संहार है ! यहाँ तक तो गनीमत है कि—

लरिका लैबे कैं मिसनु, लंगर मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी, छाती छैलु छुवाइ॥—३८६।

किंतु जहाँ प्रमभाव बालक के प्रति होना चाहिए वहाँ भी अगर छैलारब्ध प्रेम होगा, तो वह विरोधाभास ही कहा जायगा। विदेश गए हुए पतियों की स्मृति बालकों के कारण अवश्य उद्दीप्त होती है और वैसी स्थिति में बालक को पति की विभूति समझकर उसका अधिक प्यार माताएँ प्रति-प्रेम के कारण भी करती हैं, पर कोई यह कहे कि वहाँ वात्सल्य का भाव ही नहीं होता, या वह उसका ऐसा ही वर्णन करे तो उसकी समझ का फेर ही मानना पड़ेगा। जब वियोग में ऐसी बात है तो संयोग में वात्सल्य का ऐसा तिरस्कार शृंगार की भद्दी रुचि ही जान पड़ती है। लौकिक दृष्टि से विचार करने पर 'प्रौढ़ तिया' की इस करतूत का समर्थन नहीं होता।

इस प्रकार की भद्दी शृंगार-भावना का प्रसार केशवदासजी ने भी किया है। वात्सल्य के योग में रति को लाने का उन्हें अवसर तो नहीं मिला, पर 'रसिकप्रिया' में उन्होंने श्रीकृष्ण का रसिया रूप दिखाते-दिखाते ऐसे ऐसे उदाहरण प्रस्तुत कर दिए हैं जिनसे शृंगार उत्पन्न होना तो दूर रहा, घृणा होने लगती है। जैसे—

टूटी टाटि घुन घने धूम धूमसेन सने,
झींगुर छगोडी साँप बिच्छिन की घात जू।
कंटक-कलित तिन-वलित बिगंध जल,
तिनके तलप-तल ताको ललचात जू॥
कुलटा कुचील गात अंध तम अधरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
छेडी में घुसे कि घर ईंधन के घनस्याम,
घर घरनीनि यहँ जात न घिनात जू॥—रसिकप्रिया, १४-३२

इसे केशव ने वहाँ लिखा है जहाँ उन्होंने शृंगार का रस-राजत्व

प्रतिपादित करने के लिए उसके भीतर बीभत्स रस (अथवा जुगुप्सा) को दिखलाने का प्रयत्न किया है। पर पुराने आचार्यों ने पहले ही कह दिया था कि जुगुप्सा शृंगार के विरोध में पड़ती है, इसलिए वह संचारी के रूप में नहीं आ सकती।[1] पर थोथा पांडित्य-प्रदर्शन भी कैसे-कैसे स्वाँग खड़ा किया करता है, केशव का यह कवित्त उसी का एक उदाहरण है।

संस्कृत के उन रसिक कवियों ने इस प्रकार के वर्णन नहीं किए हैं जिन्होंने प्रबंध-कल्पना को ही काव्य का चरम उत्कर्ष समझा था, पर अन्य लोगों में ऐसे भाव बराबर चलते रहे। कभी-कभी इस प्रकार की प्रवृत्ति आलंकारिक चमत्कार दिखाने के लिए रससिद्ध कवियों में भी मिलती है, जैसे कालिदास में ; पर वह भी सर्वत्र नहीं, कहीं-कहीं।[2] बिहारी आदि कवियों में जो शृंगार-भावना दिखाई पड़ती है वह कहाँ से जुड़ी है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। समर्थन के लिए कुछ छंद नीचे उद्धृत किए जाते हैं। इनसे बिहारी की उक्तियों को मिलाइए तो पता लगेगा कि बिहारी कहीं-कहीं थोड़ा-सा संस्कार करके ही इन उक्तियों का अनुसरण कर रहे हैं।

भण को ण रूसइ जणो पत्थिजन्तो अएसकालम्मि।
रतिवाअडा रुअन्तं पिअं वि पुत्तं सवइ माआ ॥[3]—गाथासप्तशती, ४-१००।

सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहिं समाणु।
जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु ॥[4]—हेमचंद्र।

---

१. आलस्यौग्र्यजुगुप्साः संयोगे वर्ज्याः—रसतरंगिणी, पन्ना ५६।

२. राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥-रघुवंश, ११-२०।

३. भण को न रुष्यति जनः प्रार्थ्यमानोऽदेशकाले।
रतिव्यापृता रुदन्तं प्रियमपि पुत्रं शपते माता ॥

(बेमौके माँग बैठनेवाले पर कौन रुष्ट नहीं होता ? रति में संलग्न माता प्यारे पुत्र को बीच में रो उठने से मार बैठती है।)

४. पुष्पवतियों के साथ सोना वर्जित है। किंतु जागने पर कौन पकड़ता है, यदि वेद प्रमाण है। अर्थात् पुष्पवती के साथ सोना मना है, जागना नहीं।

साधारण जीवन के प्रकृत काव्य-क्षेत्र में पहुँचकर कवियों की वाणी की यह लीला कितनी भद्दी है ! पर ऐसे उदाहरण मिलते ही हैं। ऊपर बिहारी ने रति और वात्सल्य का जैसा संयोग दिखाया है उससे कुछ परिमार्जित भाव की एक गाथा देखिए—

एक्को पह्णुवइ थणो बीओ पुलएइ णहमुहालिहिओ ।
पुत्तस्स पिअअमस्स अ मज्झणिसण्णाएँ घरणीए ॥—गाथासप्तशती, ५-६ ।[1]

यहाँ बिहारी के पूर्वोक्त दोहे की भाँति दोनों को घोल नहीं डाला गया है, पृथक्-पृथक् ही रखा गया है। इसलिए इसे उतना भद्दा नहीं कहा जा सकता।

बिहारी की शृंगार-भावना का स्वरूप देखने के लिए दूसरा उदाहरण लीजिए। एक गर्भिणी स्त्री को देखकर कवि के हृदय में क्या भाव उत्पन्न होते हैं—

दृग थिरकौहैं अधखुलैं, देह-थकौहैं ढार ।
सुरत-सुखित-सी देखियति, दुखित गरभ कैं भार ॥—६६२ ।

यहाँ बिहारी गर्भिणी की मुद्राओं एवं अनुभवों का वर्णन अवश्य करते हैं, पर वे देखते हैं उसे 'सुरत-सुखित-सो'। यदि वे ऐसा न करते तो रसिकों के लिए अवश्य चमत्कार न होता। क्योंकि मुद्राओं की

इसीसे मिलती-जुलती एक गाथा भी है—
लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होइ होउ तन्नाम ।
एइ णिमज्जसु पासे पुप्फइ ण एइ मे णिद्दा ॥—सरस्वती-कंठाभरण, ३-२६ ।

(लोग खीझें तो खीझें, मेरी निंदा हो तो हो। हे पुष्पवती, तू आ मेरे पास लेट, मुझे नींद नहीं आती।)

[—देखो पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी का 'पुरानी हिंदी' नामक लेख—ना० प्र० प०, सं० १९७८]

१. एकः प्रस्नौति स्तनो द्वितीयः पुलकितो भवति नखमुखालिखितः ।
पुत्रस्य प्रियतमस्य च मध्यनिषण्णाया गृहिण्याः ॥

(पुत्र और प्रियतम के बीच में बैठी हुई गृहिणी के एक स्तन से तो दूध चू रहा है और दूसरा सिर पर नख के लेख से पुलकित हो रहा है।)

उभयनिष्ठता के कारण जो एक चमत्कार आ रहा है उसकी खूबी दिखाने का उन्हें अवसर न मिलता। ऐसी ही एक गाथा देखिए—

ण वि तह अइगरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण गब्भस्स।
जह विपरीअणिहुअणं पिअम्मि सोह्ना अपावन्ती॥[1]—गाथासतशती ५-८३।

बिहारी बेचारे ने तो केवल 'सुरत-सुखित-सी' की उत्प्रेक्षा मात्र की थी, यहाँ तो गर्भिणी बेचारी का गर्भजन्य शैथिल्य विपरीत की अप्राप्ति के शैथिल्य के सामने कुछ है ही नहीं।

इसी सिलसिले में एक बात और है कि बिहारी की जो शृंगार-भावना यथास्थान दिखाई पड़ती है वह वैसी बीभत्स नहीं है जैसी पुराने कवियों की या हिंदी के प्रथम आचार्य केशवदासजी की है। बिहारी को शृंगार में ही सब कुछ कहना था, इसलिए उन्हें अन्य भावों को अलग दिखाने का अवसर ही नहीं था। शृंगार ही में सब कुछ कहने की आवश्यकता इसीलिए पड़ी की इसके अतिरिक्त और कुछ सुनने के लिए कोई प्रस्तुत भी नहीं था। साथ ही मुक्तकों की परंपरा से भी परेशानी थी, जिसमें शृंगार के अतिरिक्त करुण के कुछ थोड़े से उदाहरण मिलते हैं अवश्य, पर अन्य रसों के नहीं के बराबर।[2] भक्ति के उद्रेक के उदाहरण जो बिहारी ने रखे हैं वे संभवतः उन्होंने दूसरों को सुनाने के लिए नहीं प्रस्तुत किए, वरन् अपने हृदय की वेदना को व्यक्त करने के लिए लिखे हैं। नीति के दोहे बिहारी ने लिखे ही कम और नीति की उक्तियाँ रस का संचार करनेवाली मानी भी नहीं जाती, इसलिए इन्हें केवल शृंगार-ही-शृंगार कहना था। पर इन्होंने इस घोर शृंगार का जो कुछ भी लक्ष्य कराया है, उसमें विपरीत के परंपरा-प्राप्त उदाहरणों के

---

१. नापि तथातिगुरुकेणापि ताम्यति हृदये भरेण गर्भस्य।
यथा विपरीतनिधुवनं प्रिये स्नुषा अप्राप्नुवती॥

(नायिका गर्भ के अत्यत भारी बोझ से वैसी 'झाँई' नहीं खा रही है, जैसी विपरीत के आनंद के न प्राप्त होने से।)

२ कुछ वीर रस के छंद भी पाए जाते हैं। देखो ना० प्र० प०, भाग २, अंक २।

अतिरिक्त इन्होंने अपने को बहुत संयत रखने का भी प्रयत्न किया है। ऊपर बिहारी के जो कुछ उदाहरण दिए गए हैं, वे परिष्कृत रूप में ही हैं, उनमें वैसा भद्दापन नहीं है जैसा गाथाओं में। बिहारी की इस वृत्ति का स्वरूप समझने के लिए एक उदाहरण और लीजिए—

हेरि हिंडोरैं गगन तैं परी परी-सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच ही, करी खरी रस लूटि ॥ —६६।

इसमें 'करी खरी रस लूटि' का आना शृंगार की घोरता के ही कारण है, अन्यथा कोई झूले पर से गिर पड़े तो उस समय एक प्रकार की व्यग्रता रहती है, यह तो नट-बाजीगरों का-सा खेल हो गया। फिर भी 'करी खरी रस लूटि' को केवल 'संतोष की साँस' समझना चाहिए। किसी प्रिय के बच जाने पर प्रेमी को आनंदित होना ही चाहिए। किंतु केशव की वृत्ति ऐसे ही प्रसंगों में कैसी थी, देखिए—

जानि आगि लागी वृषभानु के निकट भौन,
दौरि व्रजवासी चढ़े चहुँ दिसि धाइ कै।
जहाँ तहाँ सोर भारी भीर नर-नारिन की,
सब ही की छूटि गई लाज यहि भाइ कै ॥
ऐसे में कुँवर कान्ह सारी सुक बाहिर कै,
राधिका जगाई और युवती जगाइ कै।
लोचन बिसाल चारु चिबुक कपोल चूमि,
चंपे कैसी माला लाल लीन्ही उर लाइ कै ॥—रसिकप्रिया, ५-३२।[1]

यहाँ पर परिस्थिति ऐसी नहीं है जो शृंगार की भावना उद्दीप्त करने में सहायक हो। इस प्रकार सभी परिस्थितियों के बीच नायिका को 'चंपे की माल' बनाते फिरना रसिकता की हद है! भाव के निरूपण में या

---

१. केशव की ऐसी ही भद्दी रुचि के लिए 'रसिकप्रिया' का पाँचवाँ और बारहवाँ 'प्रकाश' विशेष रूप से देखना चाहिए। कहीं-कहीं तो केशव ने प्रेम की भावमग्नता दिखाने के लिए नायिका को प्रेतिनी तक बना डाला है (देखो, प्रकाश ७, छंद ३५)। 'कीन्ही-मन भाई' या 'किए मन भाए' से कम की बात तो केशव ने कहीं रखी ही नहीं।

इसे स्फुट करने के लिए परिस्थिति भी आवश्यक होती है। यदि उसका विधान न हो तो भाव-व्यंजना ठीक ठीक नहीं हो सकती। कम से कम इस बात का विचार तो रखना ही होगा कि विरोधी परिस्थिति का उल्लेख तो नहीं हो रहा है। इसे चाहे 'उद्दीपन' कहें चाहे वस्तु-विधान, पर परिस्थिति के औचित्य पर ध्यान देना ही होगा, क्योंकि आलंबन के औचित्य के साथ-साथ उसका औचित्य भी आ जाता है। केशव ने इसका विचार नहीं रखा है।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बिहारी में जो ऐसी भावनाएँ आई हैं वे प्रेम का विस्तार दिखाने के लिए ही, पर प्रेम का विस्तार दिखाने के लिए जहाँ आधार ठीक नहीं बन पड़ा, वहीं ऐसी त्रुटि दिखाई पड़ती है, अन्यथा अन्यत्र उनकी शृंगार-भावना उत्तम बन पड़ी है; केवल एक उदाहरण लीजिए—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की, अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह ॥—२७३।

यहाँ पर प्रियतम की गुड्डी की छाया के साथ-साथ घूमने की उक्ति में कवि की अवेक्षण-शक्ति की ही नहीं, प्रेम के विस्तार की भी दिव्य झलक मिलती है, क्योंकि जिससे प्रेम होता है उसकी प्रत्येक वस्तु प्रेमी के लिए प्रेम का आलंबन हो जाती है। इस प्रकार के विस्तार के उदाहरण बिहारी में बहुत अधिक तो नहीं हैं, पर प्रेम के इस स्वरूप को कवि ने पहचाना है और उसको यथास्थान वर्ण्य विषय बनाया है, इसलिए यह कहना पड़ेगा कि बिहारी प्रेम के प्रकृत स्वरूप से दूर भी नहीं थे।

इसके अतिरिक्त बिहारी की कविता में बाहरी अथवा मुसलमानी प्रभाव के कारण भी प्रेम के स्वरूप में कुछ ऐसी बातें आई हैं जो भारतीय रस-पद्धति के प्रकृत स्वरूप के मेल में नहीं हैं और भाव के वास्तविक निरूपण को दृष्टि में रखने से कुछ हलकी जान पड़ती हैं। ये भावनाएँ हलकी इसलिए जँचती हैं कि फारसी आदि की कविता में प्रेम का जो स्वरूप लिया गया है वह केवल एकांगी ही नहीं है, बल्कि प्रेम की तीव्रता दिखाने के लिए दूसरे पक्ष (प्रिय) को प्रथम पक्ष (प्रेमी) का तिरस्कार

करनेवाला भी दिखाया गया है। इस तिरस्कार के भीतर मार-काट तक का घोर वर्णन आता है जो भारतीय पद्धति के अनुसार रस के विरुद्ध पड़ता है। वहाँ खंजर चलना तो एक साधारण बात है, जनाजा तो रोज ही निकला करता है। इस एकांगी प्रेम के ऐसे स्वरूप का कारण यह था कि वे लोग लौकिक प्रेम के भीतर ईश्वरी प्रेम की भी बातें लक्षित कराने का प्रयत्न करते थे। ईश्वरोन्मुख प्रेम का आदर्श दिखाने के लिए तुलसीदास ने भी चातक का प्रेम लिया है, जिसमें दूसरा पक्ष उदासीन है, पर उन्होंने भारतीय प्रेम-पद्धति को ध्यान में रखकर चातक की प्रेम-प्रवणता का ही अधिक वर्णन किया है, बादल की कठोरता का बहुत कम। विदेशी प्रेम के आदर्श के सामने आ जाने पर लोगों ने उसका ग्रहण भीषण रूप में भी किया, कुछ लोगों ने तो ऐसे ऐसे वर्णन रखे हैं कि उन्हें भारतीय खोल में विदेशी भाव ही कहना पड़ता है। जैसे रसलीन की रचना। पर जो लोग भारतीय पद्धति के जाननेवाले थे उन्होंने धोखा नहीं खाया, उन्हें ग्रहण करके भी ऐसे ढंग से रखा कि वे भारतीय रस-परंपरा के भीतर ही दिखाई पड़ सके। बिहारी की इस ढंग की कविताएँ ऐसी ही हैं। एक उदाहरण लीजिए—

छुटन न पैयतु छिनकु बसि, नेह-नगर यह चाल।
मार्‍यौ फिरि फिरि मारियै, खूनी फिरै खुस्याल ॥—३२५।

यहाँ मारा हुआ बारंबार मारा जाता है और खूनी प्रसन्नता-पूर्वक घूमता है। इस उक्ति में विदेशी प्रभाव तो स्पष्ट है, पर खून-खच्चर और कटार-खंजर का विस्तार नहीं है, इसलिए यह कहना पड़ता है कि बिहारी ने विदेशी भाव को भारतीय पद्धति के भीतर ही रखा है, क्योंकि कटाक्षादि के लिए हृदय में घर करने की बात को दृष्टि में रखकर बाण आदि कहना भारतीय पद्धति ही है, पर बाणों के अन्य कार्यों को लेकर तमाशा खड़ा करना भारतीय पद्धति के विरुद्ध है। किंतु रसलीनजी का एक उदाहरण लीजिए—

जेहि मग दौरत निरदई, तेरे नैन कजाक।
तेहि मग फिरत सनेहिया, किए गरेबाँ चाक ॥—रतनहजारा, २४६।

यही मजमून अगर शेर में बाँध दिया जाय, तो उर्दू के अन्य शेरों से इसमें कोई फ़र्क़ न रह जायगा। दो-तीन शब्द भी बाहरी ही रखे गए हैं। रसलीन की सारी रचना बाहरी प्रभाव से बहुत प्रभावित है। बिहारी में ऐसा प्रभाव सहसा लक्षित नहीं होता। उन्होंने उसे माँजकर भारतीय रूप में ऐसा मिलाया है कि जोड़ झलकता ही नहीं। यह भी बिहारी की अन्य तत्कालीन कवियों से एक विशिष्टता ही थी। वे अपनी देशी परंपरा को छोड़कर कभी अलग खड़े नहीं हुए।

बिहारी में विरह की जो ऊहात्मक उक्तियाँ मिलती हैं, उनपर भी बाहरी प्रभाव पड़ा है, पर कवि ने उन्हें अपनी देशी परंपरा से मिलाए रखा है। संस्कृत में भी कुछ कविताएँ ऊहात्मक मिलती हैं, पर वे कविताएँ भी परवर्ती कवियों की ही हैं, बिहारी उन्हीं के मेल में चले हैं।

इसी संबंध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। हिंदी में इस शृंगारकाल में कुछ कवियों ने प्रेम की स्वतंत्र रचनाएँ भी की हैं, जैसे—रसखान, घनानंद, ठाकुर आदि। इन कवियों में प्रेम की जो अनोखी व्यंजना मिलती है, विशेषतः वियोग पक्ष की भावुकताभरी उक्तियाँ, वे विदेशी प्रभाव से भी प्रभावित हैं, पर सबने उन्हें भारतीय पद्धति के भीतर ही रखने का प्रयत्न किया है। कुछ मुसलमान भी हिंदी में कविता करने लगे थे। इनमें से परंपरा पर जिसने ध्यान दिया उसने तो अपने कथन को विदेशी प्रभाव से बहुत कुछ बचा लिया, पर जिनकी दृष्टि उधर नहीं जा सकी वे वैसी उक्तियाँ भी लिखते रहे। जायसी ने भी वैसी उक्तियाँ लिखी थीं। पर रसखान ऐसे कवि जो भारतीय रंग में रँग गए थे, इससे बहुत कुछ बच गए। इस संबंध में और विचार आगे किया जायगा इसलिए इसे यहीं छोड़ते हैं।

मुक्तक-रचना

मुक्तक उस रचना को कहते हैं जो अपना अर्थ व्यक्त करने के लिए स्वतः समर्थ हो ।[1] जिस छंद का लगाव पूर्वापर किसी दूसरे छंद से नहीं होता वह अनुबंधहीन स्वच्छंद पर स्वतः अर्थद्योतन में समर्थ रचना मुक्तक कहलाती है । प्रबंध की रचना सानुबंध होती है ।[2] उसमें एक प्रवाह होता है । मुक्तक में प्रवाह नहीं होता, वह स्थिर रहता है । मुक्तकों में दो प्रकार की रचनाएँ होती हैं । एक को सरस या रसयुक्त कहना चाहिए और दूसरी को नीरस या रसविहीन । यहाँ रसविहीन कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे चमत्कार-विधायक भी नहीं होतीं । रसविहीनत्व से यहाँ तात्पर्य भाव को छोड़कर अन्य रचनाओं से है । प्रबंध में भी सरस और नीरस दो प्रकार की रचनाएँ होती हैं, पर प्रबंध में धारा होती है इसलिए उस धारा में मिलकर नीरस पद भी सरस हो जाते हैं । जैसे गंगा की धारा में सभी प्रकार के गंदे जल मिलकर गंगा की पूत धारा का प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं उसी प्रकार प्रबंध की धारा में मिलकर नीरस रचना भी सरस हो जाती है । पर मुक्तक स्वच्छंद रचना होती है, इसलिए उसकी नीरस कविता अनुगुणत्व को प्राप्त कर सरस हो ही नहीं सकती। वह जैसी होती है वैसे ही बनी रहती है । यह बात एक उदाहरण से साफ हो जायगी । तुलसीदासजी का 'रामचरित-मानस' एक प्रबंध-काव्य है, उसमें सरस और नीरस सब प्रकार की रचनाएँ हैं, पर उसके नीरस पद भी अपना महत्त्व रखते हैं । वे प्रसंग के अनुरोध से यथास्थान बैठकर रस की व्यंजना करने में सहायक होते हैं । इसलिए उन्हें सरस ही कहा जायगा । पर रामचरित-मानस के ऐसे ही रसगुणेत्तर कितने ही दोहे उनके मुक्तक-संग्रह 'दोहावली' में भी संगृहीत हैं । दोहावली में

---

१. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्—अग्निपुराण ।

२. सर्गबन्धो महाकाव्यम्—साहित्यदर्पण ।

उन रसगुणेत्तर रचनाओं को नीरस ही कहा जायगा, क्योंकि वे वहाँ स्वतः कोई रस-व्यंजना नहीं करतीं और न उन्हें रस-व्यंजना में सहायता पहुँचाने का अवसर ही प्राप्त होता है। एक दोहा लीजिए—

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय, तिनहिं बिलोकत हानि॥—दोहावली।

यह दोहा दोहावली में भी है और रामचरित-मानस में भी। दोहावली में यह केवल तथ्य अथवा नीतिकथन के रूप में है। केवल कवि शरणागत की रक्षा न करनेवालों को पापी तथा मुँह न देखने योग्य बतला रहा है। इस नीति-काव्य को साधारणतया पढ़ने से किसी के हृदय में भावोद्रेक नहीं हो सकता। इसलिए यह केवल नीतिकथन ही रहेगा, भावोद्रेक में सहायक नहीं होगा। पर रामचरित-मानस में यह दोहा रामचंद्रजी ने उस समय कहा है, जब विभीषण उनकी शरण में आया है और उनके पार्षद उन्हें शत्रु-पक्ष के व्यक्ति को शरण में लेने से मना कर रहे हैं। उस प्रसंग के भीतर इस दोहे को भाव की व्यंजना करने का अवसर प्राप्त है। उस अवसर पर इसे पढ़कर हृदय में राम की शरणागतपालकता का भाव पाठक के हृदय में उठ सकता है या उठता है। माना कि इस प्रकार के नीतिकथन कवि अपनी सांसारिक अनुभूति को आधार बनाकर ही मुक्तक-रचना में रखते हैं, पर उनके लिए तब तक भावोद्रेक की जगह नहीं मिलती, जब तक पाठक के चारों ओर उस प्रकार का या उसके अनुकूल वातावरण उपस्थित न हो। यदि कोई व्यक्ति शरणागत के पालन से विमुख हो रहा हो, ऐसी परिस्थिति में यह दोहा कहा जाय तो संभव है कि परिस्थिति के संयोग से यह रचना भाव को जगाने में सफल हो सके। सामान्यतया ऐसी रचना केवल नीतिशास्त्र के शुष्क उपदेशों में ही गृहीत होगी।

इसी अवसर पर यह भी विचारणीय है कि मुक्तकों में व्यंजना का विस्तार कैसी परिस्थिति में बढ़ता है। मुक्तक-रचना यद्यपि निरपेक्ष भाव से रची जाती है, पर उसमें जीवन का कोई चित्र लेकर अथवा व्यंग्य का आधार लेकर ही कुछ कहा जाय तो इस प्रकार के कथनों का प्रभाव

शुष्क कथनों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाता है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। बिहारी ने जयसिंह को जिस दोहे के द्वारा शृंगार के दलदल से बाहर निकाला उसी पर विचार कीजिए। यदि बिहारी केवल यह कहते कि नवोढ़ा के प्रेम में मुग्ध होकर सब काम-काज छोड़ देनेवाले की बड़ी दुर्दशा होती है तो शायद उस दोहे का असर उन पर वैसा न पड़ता या पड़ता ही नहीं। पर प्रभावोत्पादकता के लिए बिहारी ने प्रकृति के भीतर से एक खंडचित्र लेकर उसका चित्रण किया और उसका प्रभाव राजा पर जैसा पड़ा, वह प्रत्यक्ष है। यह कहने का अभिप्राय यही है कि जब तक मुक्तक में जीवन या जीवन के आनुषंगिक व्यापारों के मेल में आनेवाला खंडचित्र लेकर कोई बंधान न बाँधा जायगा तब तक उसमें न तो सरसता ही आ सकती है और न वह अवसर के प्राप्त होने पर वैसा प्रभावशाली ही हो सकता है। मुक्तकों की रचना में जो कवियों की प्रशंसा की गई है, वह केवल इसीलिए कि उन्होंने जीवन के ऐसे-ऐसे अनुवृत्त लिए हैं जो रसमग्न कर सकते हैं अथवा भावोद्रेक करने में सहायक हो सकते हैं, इसलिए नहीं कि उन्होंने कोई सुंदर नीति-वाक्य कहा है। इतना ही नहीं मुक्तकों में अनुवृत्तों का चुनाव इतना साफ होना चाहिए कि पाठक उस तक शीघ्र पहुँच सके और यह चुनाव भी सामान्य जीवन-क्षेत्र से ही होना चाहिए, जिससे उसमें सबको अनुरंजन करने की सामर्थ्य हो। जिन मुक्तकों में प्रसंग के आक्षेप में कठिनाई पड़ती है और नाना प्रकार के प्रसंगों का आक्षेप संभाव्य होता है, उन्हें मुक्तकों की दृष्टि से उतना उत्तम नहीं कहा जा सकता। संस्कृत के 'अमरु-शतक' में कवि ने ऐसे ऐसे सरस प्रसंगों की योजना की है कि पाठक उसे पढ़ते ही रसमग्न हो जाता है। उसके प्रसंग के इस चुनाव को दृष्टि में रखकर संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है कि "अमरुक-कवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते।"[1] इसका तात्पर्य यही है कि उन प्रसंगों में रसमग्न करने की शक्ति बहुत अधिक है। यह नहीं कि उनसे विभिन्न अनुवृत्तों की व्यंजना होती है। हिंदी में सूरदास का सूरसागर और

१. अमरुशतक, टीका।

तुलसीदास की कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली आदि भी मुक्तक-रचनाएँ ही हैं। उनके प्रत्येक पद्य निरपेक्ष हैं। उनमें प्रबंध-काव्यों की-सी रसमग्नता इसीलिए है कि उनमें ऐसे चित्र लिए गए हैं जो मर्मस्थल पर चोट करनेवाले हैं, चित्त के भावों को बहुत शीघ्र उद्बुद्ध करनेवाले हैं। तुलसीदासजी की गीतावली में इस दृष्टि से रामचरित-मानस की अपेक्षा अधिक सरसता है, क्योंकि उसमें कोमल भावों को उद्दीप्त करनेवाले प्रसंगों का ही चुनाव करके कुछ कहा गया है। इसलिए वे बड़े उत्तम कहे जा सकते हैं। अन्य मुक्तक-काव्यों से इनमें एक बात का अंतर अवश्य पड़ता है। अन्य मुक्तकों में किसी विशेष कथा में से ही मर्मस्पर्शी प्रसंगों का चुनाव नहीं किया जाता है, पर इन कवियों ने राम और कृष्ण के चरित्र के ही उन उन रससिक्त प्रसंगों को चुना है। इसीलिए उनमें कथा का एक स्थूल रूप से क्रम भी बैठा रहता है। कुछ लोग भ्रमवश ऐसे ग्रंथों को भी प्रबंध-काव्य कह दिया करते हैं। उनके भ्रम का कारण है केवल एक ही कथा से वर्ण्य प्रसंगों का लिया जाना। पर स्मरण रखना चाहिए कि ये रचनाएँ सानुबंध नहीं कहला सकतीं।

मुक्तकों की रसमग्नता की चर्चा उठ गई, इसलिए लगे हाथों एक बात पर और भी विचार कर लेना चाहिए। रस-व्यंजक मुक्तकों और सूक्तियों में क्या अंतर होता है, यह भी जान लेना आवश्यक है। क्योंकि बिहारी-सतसई के ढंग की जो मुक्तक-रचनाएँ मिलती हैं उनमें रस-व्यंजक रचनाओं और नीति-कथनों के अतिरिक्त सूक्तियाँ भी मिलती हैं। सूक्तियाँ किसी रस या भाव की व्यंजना या उद्रेक नहीं करतीं, वे केवल चमत्कार-विधायक होती हैं। काव्य के चरम लक्ष्य को दृष्टि में रखकर यद्यपि सूक्तियाँ काव्य की आदर्श रचनाएँ नहीं कही जा सकतीं, पर चमत्कार का विधान करने के कारण उन्हें भी काव्य की कुछ नीची कोटि में रखना ही पड़ेगा। ऊपर जो सरस और नीरस नाम से मुक्तक के दो प्रकार कहे गए हैं उनमें नीरस रचनाओं के भीतर ऐसी चमत्कार-विधायक और साथ ही नीति की भी कुछ उक्तियाँ आ सकती हैं। पर नीति की सभी उक्तियाँ अथवा शुष्क नीति का प्रवचन करनेवाली रचनाएँ काव्य नहीं

कहला सकतीं। यदि ऐसी ऐसी उक्तियों को काव्य के भीतर माना जायगा तो फिर चाणक्य के नीतिवाक्य भी काव्य ही कहे जायँगे; पर उन्हें कोई काव्य नहीं कहता। इसलिए सूक्तियाँ उन कथनों से सर्वथा अलग हैं।

हिंदी में इस प्रकार की मुक्तक-रचना करनेवालों ने अधिकांश नीति-वाक्य कहे हैं। केवल तथ्यकथन काव्य का लक्ष्य नहीं है। दृष्टांत आदि की योजना से अलंकार का चमत्कार उत्पन्न हो जाने से लोग भले ही उन्हें काव्य के भीतर मानें, पर काव्य के शुद्ध लक्ष्य से वे च्युत ही समझी जायँगी। पर सूक्तियाँ वैसी नहीं होतीं। उनमें कोई भाव न हो, पर वचन की वक्रता अवश्य रहती है। इस वचन की वक्रता को काव्य की एक निम्न कोटि के भीतर ग्रहण कर लेना बुरा नहीं है। कविता और सूक्ति का अंतर साफ करने के लिए कुछ उदाहरणों की आवश्यकता है।

> सटपटाति-सैं ससिमुखी, मुख घूँघट-पटु ढाँकि।
> पावक-झर-सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि॥—६४६।

इसमें नायिका की अभिलाष दशा का चित्रण है, वह लपककर झरोखे से नायक की छवि देख जाती है। और लोग कहीं मुझे इस प्रकार झाँकते देख न लें, इसलिए वह सटपटाती-सी है, लज्जा के कारण वह झाँकने से हिचकती है। मुख को घूँघट में भली भाँति छिपा लेती है। इसमें यदि रसाभ्यासी रस के चारों अवयव ढूँढकर रस की स्थापना करना चाहें तो वे भी उन्हें साफ-साफ मिल जायँगे। अनुभावों की सम्यक् योजना है ही, जो बिहारी की एक बहुत बड़ी विशेषता है। संचारी त्रास, व्रीड़ा, उत्सुकता आदि भी प्रत्यक्ष हैं। अभिलाष दशा की व्यंजना है। इसके पढ़ने से भावोद्रेक में सहायता मिलती है, रसमग्नता इस दोहे में पूरी है। अतः यह काव्य के लक्ष्य के अनुसार कविता का ठीक उदाहरण है। अब एक सूक्ति का उदाहरण लीजिए—

> कनकु कनक तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
> उहिं खाऐं बौराइ इहिं, पाऐं ही बौराइ॥—१९२।

इस दोहे में कवि दिखाना यह चाहता है कि सोने के पाने से मनुष्य मदमत्त हो जाता है। इस मादकता की व्यंजना के लिए वह युक्ति से

काम लेता है और कहता है कि कनक धतूरे को भी कहते हैं और सोने को भी। धतूरे के खाने से घोर नशा होता है, यह प्रसिद्ध बात है। पर नशा धतूरे के खाने से चढ़ता है, छूने मात्र से नहीं। यदि किसी वस्तु के छूने से ही नशा चढ़ने लगे तो अवश्य उस वस्तु में मदमत्त करने की शक्ति धतूरे से अधिक मानी जायगी। यही बात इस सोने में है। जो इसे पा जाता है वही मदमत्त हो जाता है, पागल हो जाता है। इसलिए धतूरे से इसमें बहुत अधिक मादकता है। सोना मनुष्य को बहुत अधिक मतवाला कर देता है, यह सिद्ध हुआ। इस युक्ति में कोई भाव नहीं है, किसी रस की व्यंजना नहीं है। एक तथ्य का चतुराई के साथ समर्थन किया गया है। इस चतुराई को कहने में एक चमत्कार है, विलक्षणता है। इसी विलक्षणता के कारण इसे सूक्ति कहा जायगा। इसे आलंकारिक काव्यलिंग अलंकार का उदाहरण मानेंगे। पर किसी भाव का उद्रेक न करने के कारण यह उक्ति कविता की कोटि में न जाकर केवल सूक्ति की ही कोटि में रहेगी। इस प्रकार के चमत्कार-विधायक कथन हिंदी के अन्य मुक्तक-रचयिताओं में तो अधिक हैं, पर बिहारी में कम ही। एक और उदाहरण लीजिए—

> नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
> जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥—३२१।

इस दोहे में नम्रता की प्रशंसा की गई है। यह बतलाया गया है कि नम्रता होने से मनुष्य ऊँचा हो जाता है, बड़ा बन जाता है। इस बात को समझाने के लिए कवि ने 'नल-नीर'—नल के जल या फुहारे के नल के पानी—की स्थिति सामने रखी है। नल में पानी जितने नीचे से होकर आता है, वह उतना ही ऊपर तक चढ़ सकता है। इसलिए जो मनुष्य जितना ही नम्र होगा वह उतना ही बड़ा प्रमाणित होगा। यहाँ भी कोई भाव नहीं है। नम्रता का स्वरूप समझाने के लिए नल-नीर का दृष्टांत सामने रखा गया है। ऐसे उदाहरण सूक्ति ही हैं। इन उदाहरणों में भी यह बात बराबर देखी जा सकती है कि बिहारी ने केवल शुष्क कथन कहकर उसे नीति की राजशास्त्रीय उक्ति नहीं बनाया है। उन्होंने

बराबर किसी ऐसे दृष्टांत या युक्ति से काम लिया है जो उस तथ्य की सार्थकता को प्रमाणित करने में सहायता पहुँचाए। इसी वक्रता के कारण बिहारी में सूक्तियाँ तो पाई जाती हैं, पर कोरे नीति-कथन नहीं। यह भी बिहारी की अन्य मुक्तक-रचयिताओं से एक विशिष्टता है।

बिहारी ने सूक्तियों के अतिरिक्त जो रसमय रचना की है उसके संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि प्रसंगों की ऊहा करने में ये बड़े प्रवीण थे। यह बात तो हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि प्रेम के विस्तृत क्षेत्र में बहुत दूर तक धावा मारने का उद्योग बिहारी ने नहीं किया, कुछ बँधे हुए ही प्रसंगों को लेकर अपनी कला दिखाई, पर यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि उन्होंने इन बँधे प्रसंगों के भीतर भी जैसे सरस संदर्भों का आक्षेप किया है वह उनकी प्रतिभा और उपज के द्योतक हैं। इसी कारण बिहारी की रचना लोगों को बहुत दिनों तक रसमग्न करती रही। यद्यपि रीतिशास्त्र की लकीर पीटनेवाले कवियों की तरह बिहारी ने बँधकर अपनी रचना नहीं की, पुरानी मुक्तक की परंपरा पर ही स्वच्छंद रूप से अपने को उड़ने दिया, किंतु फिर भी समय का प्रभाव उनपर पड़ा ही, क्योंकि रीतिशास्त्र की लकीर से सटकर चलते हुए वे बराबर लक्षित होते हैं। रसखान, घनानंद ठाकुर आदि ने प्रेम की वेदना और आधिक्य को लेकर जैसा उसका विस्तार दिखाया वैसा विस्तार भी बिहारी में थोड़ा-बहुत बराबर मिलता है, पर साथ ही रीति के कवियों की भी होड़ करनेवाली कविता उनमें बहुत पाई जाती है। इसका कारण था उस समय की रुचि। पहले हम कह आए हैं कि नायिकाभेद का और हाव-भावों का विश्लेषण उस समय के लोगों का एक व्यसन हो गया था। इसलिए बिहारी को भी उसके अनुकूल चलना ही पड़ा। मुक्तकों के इतने अधिक प्रचार का भी कारण राजदरबारों की एक प्रवृत्ति थी, जिससे लोग थोड़ी देर के लिए रसमग्न होने तथा चमत्कृत होने को प्रबंध की धारा में मग्न होने की अपेक्षा उत्तम समझते थे। हिंदी में प्रबंध-काव्यों का अभाव और नाटकों की कमी का कारण यही लोकरुचि थी। क्योंकि कल्पना की टेढ़ी-मेढ़ी उड़ान दिखाने या देखने का ' भी करते ही थे।

नहीं था, जितना मुक्तकों में। मुक्तकों को काव्य का चरम लक्ष्य नहीं माना जा सकता, यह हम पहले ही कह चुके हैं। प्रबंध के क्षेत्र में ही काव्य का प्रकृत उद्देश्य पूर्ण होता है। प्रबंध एक बनस्थली है और मुक्तक एक गुलदस्ता।[1] वनस्थली की शोभा स्थायी है। वह गुलदस्ते की भाँति क्षणिक नहीं है। पर हिंदी में बहुत-से लोग यह भी लिखते और कहते देखे-सुने जाते हैं कि मुक्तक-रचना प्रबंध की अपेक्षा अधिक श्रम-साध्य है। ऐसी बातें काव्य का प्रकृत स्वरूप अथवा लक्ष्य न पहचानने के ही कारण कही जाती हैं, इसमें संदेह नहीं। इसलिए प्रबंध की रचना करने में जो कवि समर्थ हो वही रससिद्ध कवि कहा जायगा। मुक्तक-रचना के द्वारा रसबंधाभिनिवेश करनेवाले कवि उतने बड़े नहीं कहे जा सकते। पर साथ ही प्रबंध की रचना करने में समर्थ होने का तात्पर्य केवल कथा का एक ढाँचा खड़ा कर देना मात्र नहीं है। यदि कोई केशव की भाँति प्रबंध का सहारा लेकर केवल मुक्तकों का संग्रह करने लगे तो उससे सूरदास ऐसे मुक्तक-रचनाकार ही अच्छे, जो प्रबंध का सहारा लेकर सानुबंध कथा न लिखते हुए भी एक स्थूल धारा या प्रवाह-सा प्रस्तुत कर देते हैं। इसी प्रकार मुक्तक-रचना करनेवालों में वृंद आदि कवियों को आदर्श नहीं माना जा सकता। रस का अभिनिवेश करनेवाले कवियों को ही सफल मुक्तककार कहा जायगा। जब सब बातों पर विचार करके बिहारी की मुक्तक-रचना पर दृष्टि डाली जाती है, तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि इनकी काव्य-दृष्टि दूर तक थी, काव्य का लक्ष्य पहचानने वाली थी। प्रसंग-विधान के विचार से नायिकाभेद के ही दायरे में पड़े रहनेवालों की अपेक्षा इनकी रचना बहुत अच्छी है, केवल नीति या सूक्ति कहनेवालों की तो चर्चा ही व्यर्थ है!

कथन कहकर उसे रामचंद्र शुक्ल।

बाहरी प्रभाव

किसी देश के लोग जब दूसरे देशवासियों के संपर्क में आते हैं, तो प्रभावित चाहे न हों, पर कुतूहल की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण नकल अवश्य होने लगती है। यदि किसी देश के लोग विदेशी शासकों के संपर्क में आते हैं तो केवल नकल ही नहीं होती, वे प्रभावित भी हो चलते हैं। भारत में विदेशी मुसलमानों के शासन के परिणाम-स्वरूप यहाँ के लोग उनकी नकल करने, उनकी चाल-ढाल से प्रभावित भी होने लगे। धीरे-धीरे उनके यहाँ जम जाने से उनके साहित्य का भी प्रभाव, थोड़ा ही सही, भारतीय साहित्य पर भी पड़ने लगा। पहले तो दोनों ओर के लोगों के बीच एकता का सूत्र बाँधने के प्रयत्न हुए, जिनमें धार्मिक भावनाएँ भी काम कर रही थीं, पर आगे चलकर शुद्ध साहित्यिक प्रभाव भी पड़ने लगा। 'प्रेम की पीर' ने आधुनिक समय में आकर अपना कितना अधिक प्रभाव कर लिया है, इसे आजकल की कविता पढ़नेवाले सभी लोग जानते हैं, क्योंकि कोई भी कवि अपनी भावनाओं की व्यंजना करने के पहले प्रस्तावना के रूप में यह अवश्य कह लेता है कि मेरा एक वेदना का संसार है, मैं पीड़ा की गोद में पला हूँ।

जब मुसलमानी शासकों के पैर यहाँ जम गए और एक-दूसरे में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न होने लगे तो दोनों ओर के नेता जनता के बीच इसका प्रचार करने पर उतारू हुए। इस सामंजस्य की स्थापना के लिए 'ईश्वर एक ही है, राम-रहीम में कोई भेद नहीं है', इस प्रकार की उक्तियाँ इधर-उधर सुनाई पड़ने लगीं। एक-दूसरे में संबंध-सूत्र बाँधने के लिए प्रेम की पुकार मचने लगी, उसकी महत्ता का प्रतिपादन भावुकता के साथ किया जाने लगा। ईश्वर का एकत्व और प्रेम की महत्ता दोनों ऐसे विषय थे जो दोनों ओर के लोगों की विचारधारा के अनुकूल पड़ते थे। विदेशी लोगों की धार्मिक भावना में सगुण का स्वीकार नहीं था और हमारे यहाँ के दार्शनिक विचार के भीतर निर्गुण की ही प्रधानता थी, यद्यपि व्यवहार के क्षेत्र में सगुण का स्वीकार वे भी करते ही थे।

इसलिए उभयनिष्ठता के कारण वे लोग निर्गुण को ही लेकर आगे बढ़े। पर निर्गुण की उपासना का प्रचार करते समय 'निर्गुण को भजो, निर्गुण को ध्याओ' कह देने से ही काम नहीं चल सकता था, क्योंकि निर्गुण की उपासना के लिए कोई आधार तो था नहीं, इसलिए स्वभावतः पहले निर्गुण के लिए नाना प्रकार के कुतूहल-पूर्ण विशेषण लगाए जाने लगे और जीव, जगत् को लेकर बुझौवल के ढंग की उक्तियाँ तक रची जाने लगीं। इसके लिए केवल आलंबन की महानता का प्रतिपादन करने से ही काम नहीं चल सकता। इसी से उस भाव की महत्ता और उसकी तीव्रता का प्रतिपादन होने लगा। यह प्रेम का अतिरेक विदेशियों की धार्मिक प्रवृत्ति के अनुकूल पड़ता था, सूफियों की विरह-वेदना प्रसिद्ध ही है। इसलिए उस वेदना और उसकी तीव्रता की ओर यहाँ के लोग भी झुके। मुसलमानी साहित्य में जो कविता लौकिक आलंबन के प्रति भी होती थी, वह भी ईश्वर की ओर संकेत करनेवाली कही जाती थी। आगे चलकर जब कवि लोग ईश्वर के उस संकेत से हटकर लौकिक प्रेम की व्यंजना में प्रवृत्त हुए तो भी उनकी वह तीव्रता दूर न हुई, कलेजे के जलने से निकले हुए धुएँ से नये आसमान बनते ही रहे, विरह-ताप से सूर्य तपता ही रहा, सारी सृष्टि आशिक के खून या प्रेम की ललाई से लाल दिखलाई पड़ती ही रही आदि।

प्रेम की पीर और प्रेम की तीव्रता का प्रदर्शन करने के लिए सिर का उतरना, कलेजे का चाक होना आदि कितनी ही मारकाट की बातें विदेशी साहित्य में आया करती हैं। बहुत-सी बातें तो ऐसी भी होती हैं जो भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाली होती हैं और जो इसी विचार से रस-विरोधिनी अर्थात् बीभत्स मानी जाती हैं। जैसे जायसी की ये पंक्तियाँ—

भूँज सरागन्हि वह नित माँसू।

× × × ×

लागिउँ जरै जरै जस भारू।

फिरि फिरि भूँजेसि तजिउँ न बारू॥ आदि

उक्त प्रेम की पीर और तीव्रता की व्यंजना का विदेशी प्रभाव निर्गुण-संप्रदाय के नाम से पुकारे जानेवाले हिंदी के संत कवियों पर तो पड़ा ही, सगुणोपासक भक्तों पर भी थोड़ा-बहुत पड़ा और आगे चलकर प्रेम अथवा शृंगार का वर्णन करनेवाले साहित्यिक कवियों पर भी पड़ने लगा। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सगुणोपासक भक्तों को प्रेम के लिए एक आलंबन मिल गया था, इसलिए उनकी जुगुप्सावाली प्रवृत्ति स्वतः कम होने लगी, क्योंकि वे रूप पर मुग्ध होने लगे, और सौंदर्य की भावना के मेल में जुगुप्सा का नाम लेना स्वभावतः बुरा जान पड़ता है। यहाँ तक कि आगे चलकर जब मुसलमान भी भगवान के स्वरूप पर मुग्ध हुए, तो उनमें भी वह प्रवृत्ति नहीं रही। पर इसके अवशेष उनकी कविता में मिलते ही हैं।

प्रेम की जिस पीर का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसकी परंपरा मिलाने के लिए थोड़ा-थोड़ा संकेत कर देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। कबीर साहब जब कहते हैं कि—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस चढ़ावै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

तो उनका यह सिर उतरवाना विदेशी प्रभाव के ही कारण है। उन्होंने उपासक की वेदना के संबंध में जितनी बातें कही हैं वे भी विदेशी प्रभाव से ही प्रभावित मानी जायँगी। मीराबाई ने माधुर्य भाव की उपासना ग्रहण की थी, पर बाहरी प्रभाव उनपर भी पड़ा था। सूफियों के प्रभाव से उनकी कविता या भजन प्रभावित हैं या नहीं इसका विश्लेषण करना हमारा उद्देश्य नहीं है, पर इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि उनकी प्रेम की वेदना में विदेशी छाप है अवश्य, और कहीं-कहीं उनके पदों में जुगुप्सा-वाली विदेशी पद्धति भी मिलती ही है। 'सूली ऊपर सेज पिया की मिलणो किहि बिध होय' से ही इसका पता चल जाता है। यदि इतने से ही किसी को संतोष न हो तो निम्नलिखित पद देखिए—

काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे, कौवा तू ले जाइ।
ज्याँ देसाँ म्हाँरो पीव बसै, (सजनी) वे देखै तू खाइ॥—मीरा-मंदाकिनी, १-५६।

कलेजा काढ़कर दिखलाने तक तो कोई बात नहीं, पर कौए का उसे खाना अवश्य विदेशी छाप है।

कृष्णभक्त व्रजवासी कवियों में से जिन्होंने भगवान की लीला को गौण रखकर प्रेम का प्रसार दिखाने का प्रयत्न किया है, उनमें से कई में यह आशिकी रंग-ढंग और विदेशी प्रेमपद्धति की झलक मिलती है, जैसे किसनगढ़वाले नागरीदास में। बहुत आगे चल कर कुंदनशाह आदि में तो उसका अतिरेक हो गया है।

हिंदी की कविता जब कृष्णलीला के भक्ति-काव्य से हटकर शुद्ध साहित्यिक स्वरूप पकड़ने लगी तो नायिकाभेद की परंपरा से मिलकर वह एकदम शृंगार-काव्य हो गई। पर यह पहले ही कहा जा चुका है कि कृष्ण का आलंबन मिल जाने से भक्ति में विदेशी रंग-ढंग केवल प्रेम की पीर के रूप में तो बना रहा, किंतु जुगुप्सावाली प्रवृत्ति हट गई। यहाँ तक कि देशी काव्य-परंपरा के मेल में आकर विदेशी कवि तक उसे एकदम छोड़ बैठे। रहीम आदि में ऐसी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं—

जुकिहारी जोबन लिए, हाथ फिरै रस हेत।
आपुन माँस चखाइ कै, रकत आन को लेत॥
बिरही के उर में गड़ै, स्याम अलक की नोक।
बिरह-पीर पर लावई, रकत-पियासी जोंक॥—रहीम-रत्नावली, पृष्ठ ३५।

इसी प्रकार 'रसखान' भी, जो श्रीकृष्ण के रूप पर मुग्ध हुए थे, प्रेम की कठोरता का प्रतिपादन करते हुए तो ऐसी-ऐसी सिद्धांत की बातें रखते हैं—

कोउ याहि फाँसी कहत, कोउ कहत तरवार।
नेजा, भाला, तीर, कोउ कहत अनोखी ढार॥
पै एतोहू हम सुन्यो प्रेम अजूबो खेल।
जाँ बाजी बाजी यहाँ, दिल का दिल से मेल॥—प्रेमवाटिका।

किंतु जहाँ कृष्ण के प्रेम की चर्चा चलती है वहाँ बीभत्स व्यापार एकदम सामने नहीं लाते। हाँ, भावुकता का साथ देनेवाली वेदना बराबर मिलती है।

हिंदी के रीतिकाल में कई ऐसे कवि हुए हैं जो नायिकाभेद की या रीति की लकीर के फकीर नहीं बने हैं, उनमें स्वच्छंद रचना करनेवाले प्रसिद्ध कवि रसखान, घनानंद, ठाकुर आदि हैं। इनकी रचनाओं में जो प्रेम का अनूठा स्वरूप मिलता है, वह भी विदेशी वेदना के ही कारण, विशेषत: घनानंद की कविता में। घनानंद को प्रेम की बहुत-सी कहा-सुनी की जगह विदेशी रंग-ढंग के ही कारण मिली है। उन्होंने पहले ही कह दिया था कि—

समुझै कबिता घनआनँद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी।

इस प्रकार के कवियों की कविता में प्रियतम से मिलने के लिए पर्वत नदी नाले लाँघना, उसकी गली में फेरी लगाना, भाले-तलवार की चोट से हरदम छटपटाया करना, प्रेम का पिशाच लगना, मरने से कम की चर्चा ही न करना आदि कितनी ही बातें ऐसी हैं जो विदेशी रंग-ढंग से पूर्ण हैं। यह केवल विदेशी प्रभाव की चली आती हुई परंपरा ही नहीं है। ये लोग अपने समय में भी उस साहित्य से प्रभावित होते रहे हैं। जिन लोगों ने आगे चलकर अधिक प्रभावित होना प्रारंभ किया उनकी बात बहुत स्पष्ट हो गई, जैसे रसनिधि आदि, पर जो कुशल थे उन्होंने उसे एक ढंग से ग्रहण किया, जैसे ठाकुर आदि।

पर कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने इस विदेशी भावना को एकदम भारतीय रंग-ढंग में मिलाकर सामने रखा। ऐसे ही कवियों में बिहारी हैं। इनकी कविता में विरह की उक्तियाँ उसी चमत्कारप्रियता का संकेत करनेवाली हैं जो मुसलमानी साहित्य में अधिक पाई जाती हैं। विरह की ऊहात्मक उक्तियाँ भारतीय परंपरा के भीतर भी पाई जाती हैं। बिहारी ने इन दोनों को ऐसा मिला दिया है कि सहसा पता नहीं लग सकता कि कवि को भारतीय परंपरा में समझें या विदेशी भाव से प्रभावित। पर ध्यान देने से यह साफ झलकने लगता है कि बिहारी ने विदेशी रंग-ढंग को भारतीय पद्धति के भीतर ही देखने का ही प्रयत्न किया है। कुछ उदाहरण लीजिए—

इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं-सैं रहै, लगी उसासनु साथ ॥—३१७।

साँस का यह झूला विदेशी ही है। कृशता के कारण साँस लेने से शरीर का हिलना आदि भारतीय परंपरा में भी मिलता है,[1] पर उसके झोंके से करवट बदलना, झूला झूलने लगना आदि विदेशी चमत्कारवाद का नतीजा है। संस्कृत में भी दंडी आदि पुराने चमत्कारवादियों के प्रभाव से कुछ आलंकारिक रंग-ढंग बढ़ गया था। आगे चलकर वह कम होने लगा था, किंतु मुसलमानी शासक हो जाने से संस्कृत के मुक्तक-कारों में भी ऐसी चमत्कारवाली प्रवृत्ति फिर आने लगी थी, इस बात पर भी ध्यान रखना जरूरी है।

करी बिरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीच।
दीनैं हूँ चसमा चखनु, चाहै लहै न मीच ॥—१४०।

कज़ा के ढूँढ़ते फिरने की उक्तियों से इसमें कोई अंतर नहीं है। भारतीय परंपरा में कृशता का जो वर्णन होता है उसमें आश्रय की दशा का चित्रण विशेष रहता है, बाहरी आरोप के द्वारा कृशता की व्यंजना वहाँ नहीं होती। इसलिए इसे विदेशी प्रभाव का ही परिणाम समझना चाहिए। मौत के शिकरे की यह झपट भी विदेशी ही है—

नित संसौ हंसौ बचतु, मनौ सु इहिं अनुमानु।
बिरह-अगिनि-लपटनु सकतु, झपटि न मीचु-सिचानु ॥—१२४।

बिरहताप की अधिकता के कारण कपड़ों को भिगोकर, शरद् ऋतु में भी नाना प्रकार के शीतल उपचारों के प्रयोग करके नायिका के निकट पहुँचना, विदेशी रंग-ढंग ही है। पर दूर से बिहारी के भीतर की यह विदेशीयता नहीं लक्षित होती। इसका कारण यही है कि बिहारी ने

---

१. प्राप्ता तथा तानवमङ्गयष्टिस्त्वद्विप्रयोगेण कुरङ्गदृष्टेः।
घत्ते गृहस्तम्भनिवर्त्तितेन कम्पं यथा श्वाससमीरणेन ॥—विक्रमांकदेवचरित।
(आपके वियोग से उस मृगनयनी की शरीर-लता इतनी कृश हो गई है कि घर के खंभे से टकराकर लौटी हुई साँस की हवा से वह काँपने लगती है।)

उन्हीं विदेशी ढंगों को ग्रहण किया है जो भारतीय परंपरा की छाया में पल्लवित हो सकते हैं।

प्रेम के निरूपण में, सौंदर्य की व्यंजना तथा अन्यत्र भी बहुत-सी बातें ऐसी आई हैं जो विदेशी प्रभाव से प्रभावित हैं, पर बहुत दूर तक इन्हें ले जाने का प्रयत्न बिहारी ने नहीं किया है। जहाँ तक किसी बात को ले जाने की 'समाई' थी वहीं तक उसे रखा है, इसलिए दो-चार स्थलों के अतिरिक्त उसमें विदेशी ढंग का भद्दापन कहीं नहीं आया है। उदाहरण लीजिए—

निरदय ! नेहु नयौ निरखि भयौ जगतु भयभीतु।
यह न कहूँ अब लौं सुनी, मरि मारियै जु मीतु ॥—३७०।

यहाँ बिहारी ने केवल 'मरि मारियै' ही रखा है, मार-काट का कोई बीभत्स व्यापार नहीं खड़ा किया।

डर न टरै, नींद न परै, हरै न कालबिपाकु।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ बिषमु छबि-छाकु ॥—३१८।

है तो यह नशा विदेशी ही, पर भारतीय पद्धति से बहुत दूर नहीं है।

जौ न जुगति पिय-मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन।
जौ लहियै सँग-सजन, तौ धरक नरक हूँ की न ॥—७५।

दोजख की आग में राख होनेवाले आशिकों की मुसलमानी उक्तियों से यह उक्ति बहुत-कुछ मिल गई है, पर दोजख के आतिश की भीषणता का निरूपण न करके कवि ने इसे भावुकता की सामान्य उक्ति के ही रूप में रहने दिया है और देशी परंपरा में मिलाने की चेष्टा की है। क्योंकि शृंगार की इसी से मिलती-जुलती उक्तियाँ भर्तृहरि आदि में मिल जाती हैं। इसी प्रकार सुकुमारता की ये उक्तियाँ भी हैं—

भूषन-भारु सँभारिहै, क्यौं इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा हीं कैं भार ॥—३२२।
पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहिं हेतु।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देतु ॥—३२५।

'फोटो' का यह बखेड़ा भी वैसा ही है—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर ।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥—३४७ ।

भावों की ही नहीं, भाषा की सफाई और मुहावरों के प्रयोग भी विदेशी छाप से युक्त हैं, आगे चलकर 'रत्नाकर' जी ने अपनी कविता में मुहावरों का प्रयोग बहुत कुछ विदेशी रंग-ढंग का रखा है, यह बिहारी की ही नकल है । भाषा के संबंध में यहाँ अधिक विचार करने की गुंजाइश नहीं, इसलिए यहाँ पर केवल बात को थोड़ा साफ करने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है—

मूड़ चढ़ाऐंऊ रहै, पर्‌यौ पीठि कच-भारु ।
रहै गरैं परि, राखिबौ, तऊ हियैं पर हारु ॥—४५१ ।

यहाँ पर 'मूड़ चढ़ाएँ', 'पर्‌यौ पीठि', 'गरैं परि', 'हियैं पर' चारों लाक्षणिक प्रयोग हैं और मुहावरों की यह लाक्षणिकता मुसलमानी छाप को साफ व्यक्त कर रही है । हिंदी की परंपरा में इस प्रकार मुहावरों को लेकर कहने-सुनने की परंपरा कम थी । ऊपर प्रेम के जिन स्वच्छंद कवियों का नाम लिया गया है, सभी में इस प्रकार की कहन मिलती है । इसलिए इसे विदेशी छाप ही मानना पड़ेगा ।

यही नहीं, कितने ही आलंकारिक प्रयोग, जो भाषा की वक्रता के आधार पर मुसलमानी काव्य में मिलते हैं, वे भी बिहारी में पाए जाते हैं, पर अपने यहाँ की आलंकारिक योजना में इन्होंने उसे ऐसा मिला रखा है कि उसमें बाहरी रंग-ढंग दूर से नहीं झलकता । बिहारी का यह प्रयत्न श्लाघ्य कहा जायगा । अपने साहित्य एवं भाषा की परंपरा एवं प्रकृत को न भूलते हुए विदेशी बातों को भी उसके भीतर दिखाना एक विशेष प्रतिभा का परिचायक है । बिहारी की यह विशेषता भी ध्यान में रखने योग्य है ।

सतसई की परंपरा

स्तोत्र और भक्ति के ग्रंथों के नाम शतक, सप्तशती आदि होते ही थे, पर जब लोग शृंगार की मुक्तक-रचना करने लगे तो शुद्ध काव्य में भी शतक और सप्तशती नाम का ग्रहण होने लगा। प्राकृत में जब से हाल की गाथासप्तशती का संग्रह हुआ तब से शृंगार के वैसे ही रसपूर्ण मुक्तकों की रचना करने का और लोगों को भी हौसला होने लगा। इसके परिणाम-स्वरूप आर्यासप्तशती और अमरुकशतक ऐसे ग्रंथों की रचना हुई। बात यह थी कि लोग जो स्फुट रचना किया करते थे उसके लिए कोई एक नियत संख्या का होना आवश्यक था। यों तो प्राकृत में और आगे चलकर मुक्तकों की बहुत-सी ऐसी रचना मिलती है जो किसी सप्तशती या ग्रंथविशेष की न होकर विभिन्न कवियों की स्फुट रचना है। पर जिनकी रचनाएँ काफी हो गईं उन्होंने उसे पुस्तक का भी रूप दे दिया। जो ऐसा न कर सका उसकी कितनी ही रचनाएँ उसी तरह रह गईं, केवल अन्य लोगों को जो रचनाएँ याद थीं वे ही सामने आ सकीं। मुक्तकों को 'सौ' के बंधन में बाँधने की परंपरा-सी चली आती है। पुरानी हिंदी में पता नहीं ऐसे और ग्रंथ थे या नहीं, पर कहा जाता है कि रहीम की एक सतसई थी, जिसके लगभग आधे छंद मिलते हैं। तुलसीदास के नाम से एक तुलसी-सतसई या रामसतसई मिलती ही है। बिहारी की सतसई के निर्मित हो जाने पर तो बहुतों ने नोक-झोंक में सतसइयाँ लिख डालीं। विक्रमसतसई, शृंगारसतसई, मतिरामसतसई, वृंदसतसई आदि कई सतसइयाँ रची गईं। इनमें से बिहारी की होड़ में लिखी गई शृंगार की सतसइयाँ अधिक हैं; यद्यपि नीति की सतसइयाँ भी बनी हैं जिनसे बिहारी की कविता की होड़ से कोई संबंध नहीं। उन्हें चाहें तो कह सकते हैं कि उनकी परंपरा ही अलग है। रहीम और तुलसी की सतसइयाँ भी नीति-सतसइयाँ ही है। इसलिए हिंदी में शृंगार

की सतसइयों का आरंभ बिहारी से ही होता है। आगे चलकर सतसंई तक ही यह संख्या बँधी न रह सकी, लोग 'हजारा' भी लिखने लगे, जैसे 'रतनहजारा'। हमारे एक मित्र ने कानपुर में एक नौसई और ग्यारहसई भी देखी है। जिनमें से नौसई तो प्रसिद्ध कवि देवकीनंदन की कही जाती है। आधुनिक समय में भी कई सतसइयाँ निकल रही हैं।

पर बिहारी ने आधार संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश को ही रखा है। हिंदी के पुराने कवियों के भी दोहेवाले ग्रंथ इन्होंने उलटे-पलटे थे, पर इनके आधार-ग्रंथ गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरुकशतक आदि ही विशेष रूप से हैं। अपभ्रंश के बहुत-से छंदों में बिहारी के दोहों के से भाव मिलते हैं, पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ अपभ्रंश का नहीं मिलता। इन्होंने हेमचंद्रादि अथवा अन्यत्र इनका भी अवलोकन किया होगा। ऊपर भी कई बार कहा जा चुका है कि बिहारी की यह शृंगार-रचना एक बँधकर चली आती हुई परंपरा की ओर संकेत अवश्य करती है। रहीम ऐसे विदेशी कवि ने भी शृंगार की जो इस ढंग की मुक्तक-रचना की है, वह भी प्रौढ़ है। यह प्रौढ़ता केवल किसी विशेष व्यक्ति की विभूति नहीं कही जा सकती है। इस प्रौढ़ता का कारण एक परंपरा जान पड़ती है। संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथों को ही पढ़कर कोई एक ऐसी रचना नहीं कर सकेगा, जैसी बिहारी ने की है। अवश्य इसके पीछे परंपरा भी है। आज उसका ठीक-ठीक पता नहीं मिलता है, पर वह रही होगी, इसमें संदेह नहीं है। इसके संकेत भी कुछ-कुछ मिलते हैं।

बिहारी-सतसई की इस आधार-परंपरा का मिलान करने के लिए नीचे विभिन्न पुस्तकों और स्थलों से कुछ थोड़े-से उदाहरण, मिलते-जुलते बिहारी के दोहों के साथ उद्धृत कर दिए जाते हैं। बिहारी के जितने दोहों से मिलनेवाले संस्कृत, प्राकृत आदि के छंद मिलते हैं उनको यदि ध्यान से देखा जायगा तो साफ पता चल जायगा कि बिहारी ने अंधानुसरण कहीं नहीं किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के उन ग्रंथों को पढ़ा था, इससे उसके संस्कार से कई उक्तियाँ उन कवियों की रचनाओं से मिल गई हैं। बहुत-से छंदों को कुछ संस्कार एवं सुधार के साथ

ही इन्होंने ग्रहण किया है। पहले गाथासप्तशती को ही देखिए—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥—३८।

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥[1]—गाथासप्तशती, ५-४४।

अविहत्तसंधिबन्धं पढमरसुब्भेअपाणलोहिल्लो।
उव्वेलिउं ण जाणइ खण्डइ कलिआमुहं भमरो ॥[2]—गाथासप्तशती, ७-१३।

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात ॥—६०

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं वा लिक्खए लेहे।
तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो ॥[3]—गाथासप्तशती, ६-७१।

---

१. यावन्न कोशविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥

(अभी मालती की कली के कोश का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरंद को पान करने के लोभी भौंरे तू ने उसका मर्दन आरंभ कर दिया।)

२. अविभक्तसंधिबन्धं प्रथमरसोद्भेदपानलुब्धः।
उद्वेल्लितुं न जानाति खण्डयति कलिकामुखं भ्रमरः ॥

(कली के प्रथम मकरंद रस के पान का लोभी भौंरा उसके मुख के जोड़ को खंडित कर रहा है, वह उसको विकसित करना नहीं जानता।)

भ्रमर और कली की ऐसी उक्तियाँ बहुत-सी लिखी गईं—

पिब मधुप ! बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥—आर्यासप्तशती, ३६७।

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग ! लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥—विकटनितंबा।

३. वाचया किं भण्यतां कियन्मात्रं वा लिख्यते लेखे।
तव विरहे यद्दुःखं तस्य त्वमेव गृहीतार्थः ॥

(वाणी से क्या कहा जाय, लेख में कितना लिखा जाय ? आपके विरह में जो दुःख हो रहा है उसे आप स्वयं समझ सकते हैं।)

गाथासप्तशती के अनुकरण पर बननेवाली 'आर्यासप्तशती' के भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

कंजनयनि मजन किएँ, बैठी ब्यौरति बार।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै, चितवति नंदकुमार ॥—७८।

चिकुरविसारणतिर्यङ्नतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला।
त्वामियमङ्गुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ॥[1]—आर्यासप्तशती, २३१

फिरि फिरि चित उत ही रहत, टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छबि-झौंर मैं, भयो भौंर की नाव ॥—१०।

आमं आमं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव।
आवर्त्तपतितनौकायितमनया विनयमपनीय ॥[2]—आर्यासप्तशती, ४२२।

अपभ्रंश के जो फुटकर 'दूहा' हेमचंद्रादि में मिलते हैं उनमें भी यह परंपरा सुरक्षित है। बिहारी के बहुत-से दोहे इन 'दूहों' से भी उसी प्रकार मिल जाते हैं।

भण सहि निहुअउं तेवँ मइं जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥[3]

—ना० प्र० प०, भाग २ अंक ४।

---

१. बालों को सँवारने में गर्दन को तिरछी किए झुकी हुई उलटे (पीठ फेरे) बैठी हुई भी वह नायिका अँगुलियों से बालों के बीच में जगह करके तुम्हें देख रही है।

२. तुम्हारे स्नेह के जल में इधर-उधर चक्कर काटकर वहीं की वहीं स्थित यह नायिका विनय को छोड़कर, भौंर में पड़ी हुई नौका बन गई है।

३. हे सखि ! यदि प्रिय सदोष दिखाई पड़ा है तो मुझसे इस प्रकार गुप्तरूप से कह कि उसका पक्षपाती मेरा मन न जान सके।

इसी भाव से मिलता हुआ 'अमरुक' का यह प्रसिद्ध श्लोक भी है—

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥—अमरुकशतक, ७०।

[(सखी नायिका से कहती है) हे मुग्धे ! इस प्रकार मुग्ध भाव से समय

सखी सिखावति मान-बिधि, सैननि बरजति बाल।
हरुये कहि मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल॥[1]

—लालचंद्रिका, ७१३।

अम्मीए सत्थावथेहिं सुधिं चिन्तिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण की चेअइ अप्पाणु॥[2]

—ना० प्र० प०, भाग २, अंक ४।

तुहूँ कहति, हौं आपु हूँ समुझति सबै सयानु।
लखि मोहनु जौ मनु रहै, तौ मन राखौं मानु॥—४५८।

भमरा एत्थु बि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु।
घणपत्तलु छायाबहुलु फुल्लहिं जाम कयम्बु॥[3]

—ना० प्र० प०, भाग २, अंक ४।

इहीं आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वैहैं फेरि बसंत ऋतु, इन डारनु वे फूल॥—४३७।

बिहारी के दोहों से भाव में मिलनेवाले कितने ही और बहुत से पद्य प्राकृत, अपभ्रंश आदि के अतिरिक्त संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों में भी मिलते हैं। सबका संग्रह करना और सबको दिखाना न तो अभीष्ट ही है और न उसके लिए स्थल ही। इसलिए संस्कृत के प्रसिद्ध 'अमरुकशतक'

क्या बीता रही हो? मान करो, धीरज बाँधो, सिधाई को दूर कर दो। सखी के द्वारा इस प्रकार सचेत करने पर वह भयभीत मुख करके सखी से कहने लगी कि धीरे से बोल, मेरे हृदय में बैठे हुए प्राणेश्वर कहीं सुन न लें!]

१. बिहारी-रत्नाकर में यह दोहा स्वीकृत नहीं है। पर लालचंद्रिका आदि दो-तीन पुस्तकों में पाया जाता है।

२. अम्मा! जो स्वस्थ अवस्था में हो वही सुख से मान की बात सोच सकता है। प्रिय के देखने पर हड़बड़ी के कारण कौन अपनत्व को चेत सकता है? (अपनत्व ही भूल जाता है तो फिर मान कैसा!)

३. हे भौंरे! (तब तक) यहाँ नीबड़ी में कुछ दिन विलंब कर, घने पत्तों और बहुत छायावाला कदंब जब तक नहीं फूल जाता।

का केवल एक बहुत प्रसिद्ध छंद नीचे देकर हम हिंदी के कुछ पुराने कवियों से बिहारी-सतसई की परंपरा का मिलान करने का प्रयत्न करेंगे।

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

—अमरुकशतक, ८२।

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँहु चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिस्यानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ॥—६४२।

यह सब दिखाकर यह लक्षित करने के फेर में पड़ना हमारा अभीष्ट नहीं कि बिहारी और उनके पूर्ववर्ती कवियों में से कौन बड़ा या महाकवि था, और न यही कि बिहारी ने भावों की चोरी की है या नहीं। यहाँ हम केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि बिहारी-सतसई की परंपरा कहाँ से मिली हुई है और जिन भावों एवं पद्धतियों को बिहारी ने ग्रहण किया है वे परंपरा से चली आ रही हैं। हिंदी के रीति-काल में अधिकांश रचना ऐसी हुई है जिसमें केवल प्राचीन भावों का पिष्टपेषण है, ऐसा पिष्टपेषण कि सुनते-सुनते कान पथराने लगते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि बिहारी में अथवा हिंदी के स्वच्छंद कवियों में भी वही प्रवृत्ति व्याप्त रही; उन लोगों ने मार्ग तो वही ग्रहण किया, भूमिका भी वैसी ही रखी; पर महल अपना खड़ा किया, मसाला अपना लगाया। इस बात को ही आनंदवर्धनाचार्य तथा राजशेखर ने कवि-प्रतिभा के रूप में माना है, केवल शब्दों को लेकर साहित्यिक युद्ध के लिए मोर्चेबंदी करने लगना उन लोगों की दृष्टि में भी अनुचित था। शब्द ही क्यों, वर्ण्य विषय तक को लेकर ऐसा करने बैठना अनुचित है, क्योंकि वर्ण्य विषय तो वही अब तक चला आ रहा है, शब्द भी वे ही रहते हैं, अंतर केवल कहने के ढंग और कवि की भावुकता का पड़ता है। किस प्रकार से कौन-सी बात कही जाय जो प्रभावोत्पादक हो, हृदय को छू सके, यही अच्छे कवियों का कार्य है। उनके कहने का ढंग भी उन्हें औरों से भिन्न

करता है, उनकी अवेक्षण शक्ति की तीव्रता और उसके निरूपण की निपुणता ही उन्हें औरों से अलग रख देती है।

बिहारी के पूर्व इस प्रकार की शृंगारी रचना हिंदी में अवश्य हुई होगी, यह तो बिहारी की प्रौढ़ता से ही पता चल जाता है, किंतु उन ग्रंथों और कवियों का पता नहीं चलता। इधर-उधर उसके चिह्न बराबर मिलते हैं। कृपाराम ने अपनी 'हिततरंगिणी' संवत् १५९८ में लिखी थी, उन्होंने लिखा है कि—

बरनत कबि सिंगार-रस छंद बड़े बिस्तारि।
मैं बरन्यों दोहान बिच, यातें सुघर बिचारि॥—हिततरंगिणी, ४।

इससे यह तो पता चलता ही है कि शृंगार-रस के लक्षण-ग्रंथ बड़े छंदों में पहले से ही लिखे जा रहे थे, पर शृंगार-रस के लक्ष्य-ग्रंथ कौन से थे, इसका पता नहीं। बड़े छंदों में शृंगार-रस का वर्णन तो भाटों के कवित्त-सवैयों की परंपरा है, पर दोहों में भी शृंगार की खूब रचना होती रही होगी, इसमें संदेह नहीं। रहीम जब दोहे की रचना की प्रशंसा करते हैं।[1] तुलसीदासजी भी दोहे की रचना का गुण गाते हैं।[2] तो केवल दोहोंवाली रचना भी अधिक अवश्य रही होगी और वह रचना केवल नीति ही नीति न रही होगी, उसमें शृंगार भी रहा होगा और अधिक रहा होगा, इसमें संदेह नहीं। तुलसी के दोहे तो भक्ति और नीति के हैं, इसलिए उनमें शृंगार खोजने की आवश्यकता नहीं, तुलसी की प्रकृति उच्छृंखल शृंगार ही नहीं, शृंगार के कड़े रूप तक से दूर थी। पर रहीम में ऐसी बात नहीं है। उनकी अप्राप्त सतसई के जितने दोहे मिलते हैं उनमें भी शृंगार-रस के दोहे बिलकुल उसी वंश के मौजूद हैं जिस वंश के बिहारी के हैं। बात यह है कि नीति के दोहे तो जनता की जीभ

---

१. दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यौं रहीम नट कुंडली, सिमिटि कूदि चलि जाहिं॥—रहीम-दोहावली, ८६।
रूप कथा पद चारु पट, कंचन 'दोहा' लाल।
ज्यों-ज्यों निरखत सूक्ष्म गति, मोल रहीम बिसाल॥—रहीम-दोहावली, २४१।

२. मनिमय दोहा दीप जहँ उर-घर करै प्रकास।—तुलसी।

पर भी चढ़े रह गए, उनका बराबर व्यवहार होता रहा, इसलिए वे बच गए, पर शृंगार के दोहे लुप्त हो गए। इसलिए वे कम मिलते हैं। उन्होंने शृंगारी रचना बरवै-नायिकाभेद में की है, शृंगार-सोरठ है ही। इधर उनका 'नगर-शोभा' नामक ग्रंथ भी मिला है जो याज्ञिक महोदयों ने 'रहीम-रत्नावली' में रखा है, उसमें बराबर शृंगारी दोहे मिलते हैं। उनके चारों ग्रंथों से एक-एक शृंगार के उदाहरण केवल, इसलिए दिए जाते हैं कि शृंगार की यह परंपरा चली आती हुई लक्षित हो सके—

नैन सलोने अधर मधु, कहि 'रहीम' घटि कौन।
मीठो भावै लोन पर, अरु मीठे पर लौन ॥—रहीम-दोहावली, ११२।

बिरह-बिथा कोऊ कहै, समुझै कछू न ताहि।
वाके जोबन रूप की, अकथ कथा कछु आहि ॥—नगरशोभा, ८७।

दीपक हिये छिपाय, नवल बधू घर लै चली।
कर-बिहीन पछिताय, कुच लखि निज सीसै धुनै ॥—शृंगार-सोरठ।

करत नहीं अपरधवा, सपनेहुँ पीव।
मान करै की सधवा, रहि गइ जीव ॥—बरवै-नायिकाभेद, ६६।

इसमें उदाहरण ऐसे ही रखे गए हैं जो बिहारी से मिलते हुए अथवा इस शृंगारी परंपरा के पोषक हैं। अंतिम बरवैवाला उदाहरण तो एकदम बिहारी से मिल जाता है।

'हिततरंगिणी' से भी कुछ उदाहरण लीजिए—

खेलति चोरमिहीचनी, निजु सखि डीठि बनाइ।
स्याम दुरे तिहि कोन में, दुरत लए उर लाइ ॥—हिततरंगिणी, पृष्ठ १६।

दोऊ चोरमिहीचनी, खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात ॥—५३०।

मोहि रुचै सोई करै, अति उदार प्यो जान।
मो मन साध रहै सदा, करौं कौन बिधि मान ॥—हिततरंगिणी।

राति द्यौस हौंसै रहै, मानु न ठिकु ठहराइ।
जेतौ औगुन ढूँढियै, गुनै हाथ परि जाइ ॥—४५३।

रहीम का ऊपर उद्धृत बरवै भी साथ में रख लीजिए, वही परंपरा है।[1]

बिहारी-सतसई की रचना के बाद तो कितने ही लोग उसकी होड़ करने के लिए आगे बढ़े। पर बिहारी के ऐसी उनमें न तो मार्मिकता ही थी और उतनी विस्तृत दृष्टि ही, इसलिए वे लोग बिहारी की होड़ नहीं कर सके। बिहारी का प्रभाव केवल सतसई की-सी मुक्तक-रचना पर ही नहीं पड़ा, बल्कि और कितने ही मुक्तक-रचनाकार बिहारी से प्रभावित हुए। इस स्थान पर उन सबका विस्तार न करके उन्हें आगे प्रदर्शित किया जायगा। इसलिए परवर्ती लोगों की चर्चा यहाँ नहीं उठाई जाती।

---

१. कुछ लोगों ने अज्ञानवश ऐसा समझ रखा है कि बरवै छंद रहीम के समय से चला है। कहा जाता है कि प्रेम की लिखा-पढ़ी में नीचे लिखे नये छंद की उद्भावना हुई और उसमें आए 'बरवा' शब्द से इस छंद का नाम बरवा या बरवै पड़ गया—

कबि-समाज को बिरवा चले लगाइ।
सींचन की सुधि लीजौ मुरझि न जाइ॥

बात ऐसी नहीं है। हिततरंगिणी में भी दोहों के साथ-साथ बरवै भी मिलते हैं और उनका क्रम वही अवधीवाला ही है।

प्रसंग-विधान

हम पहले कई बार इस बात को सुझा चुके हैं कि मुक्तक-रचना में भी एक प्रकार की कथा का अंश होना चाहिए। जिन मुक्तकों का अभिप्राय किसी प्रकार के रस या भाव को उद्बुद्ध करना होता है उनके लिए आवश्यक है कि कवि एक ऐसी परिस्थिति का आक्षेप करे जो उस रस या भाव को उद्दीप्त करने में सहायक हो। प्रबंध-काव्यों के बीच कथा की एक धारा होती है, इसलिए कवि चाहे कितना ही भावुक क्यों न हो उसको कथा के वे स्थल भी उसमें लाने ही पड़ते हैं जो एक प्रकार से प्रवाह की केवल शृंखला मिलानेवाले होते हैं। यह बात दूसरी है कि जिस कवि में मार्मिक प्रसंगों के चुनाव की क्षमता होती है वह उन स्थलों को खोजकर उनका विस्तार के साथ वर्णन करता है और केवल प्रवाह की शृंखला के लिए आए हुए वर्णनों का केवल उल्लेख मात्र कर देता है। पर किसी मुक्तक-रचना में ऐसी बात नहीं हो सकती। यहाँ तो प्रवाह की वह विशेषता रहती ही नहीं जो गंगा की पूत धारा की भाँति अनपेक्षित बातों को भी अपने में मिलाकर पूत कर ले। इसलिए मुक्तकों के लिए सबसे अधिक ध्यान देने की बात प्रसंगों का चुनाव है। कवि को ऐसी परिस्थितियों को जीवन के भीतर से चुनना होगा, ऐसे-ऐसे संदर्भ सामने लाने पड़ेंगे जिनमें रसमग्नता के लिए पर्याप्त जगह हो। मुक्तकों में यह प्रसंग-विधान रस की दृष्टि से बहुत अधिक ध्यान की वस्तु है। नीति की कथा कहनेवालों में भी जो हृदय-स्पर्शी उक्तियाँ मिलती हैं उनका कारण मार्मिक परिस्थितियों के आधार पर उक्तियों का निर्मित होना ही है, रहीम की नीतिवाली उक्तियाँ हृदय में कभी-कभी अपना गहरा प्रभाव डालती हैं। वे भले ही किसी को भावमग्न न करें, रस में न डुबोएँ, पर उनसे हृदय पर एक प्रकार का प्रभाव अवश्य उत्पन्न होने लगता है। इसका कारण वही परिस्थिति की गंभीरता है। रहीम को जीवन के भीतर नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त हुए थे। उन्हें ही वे बैठे-बैठे नीति की उक्तियों

में बाँधते रहे। यदि रहीम ने नीति का आधार न लेकर भाव और रस के क्षेत्र में उतरने का प्रयत्न किया होता तो वे ही उक्तियाँ अत्यंत सरस हो जातीं। उनकी वे उक्तियाँ जो शुद्ध भाव को लेकर लिखी गई हैं, अधिक मार्मिक हैं। इसका कारण प्रसंगों का ही स्वारस्य है, परिस्थितियों का चुनाव ही उनमें सरसता लाता है।

चमत्कार-विधायक उक्तियों को छोड़कर रसाभिव्यक्तिवाली मुक्तक-रचना की उक्तियों को देखा जाय तो उनमें कवि के लिए परिस्थिति और चित्रण ही प्रधान हैं। तीसरी बात रमणीयता लाने की है। इन तीनों के समन्वय से ही कोई उक्ति सुंदर कही जा सकती है। आज तक जितनी उक्तियाँ प्राचीन लक्षण-ग्रंथों में रस या भाव के प्रसंगों में उद्धृत होती रही हैं उनमें ये ही तीन बातें विशेष रूप से पाई जाती रही हैं। जिनमें से परिस्थिति और चित्रण मुख्य हैं। पर इसके साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि किसी ऐसे प्रसंग की भी ऊहा करना समीचीन नहीं है जो गूढ़ हो और पाठक उस तक देर में पहुँचे। साहित्य में गूढ़ता के कारण एक प्रकार से काव्य के लक्ष्य तक पहुँचने में बाधा पड़ती है। उसमें देर लगना ठीक नहीं होता। पर मुक्तकों की रचना का बाहुल्य चमत्कार की प्रवृत्ति को ही लेकर हुआ। इसलिए यह बराबर देखा जाता है कि उक्तियों में जान-बूझकर गूढ़ता रखी गई है। मुक्तकों की वे ही उक्तियाँ काव्याभ्यासियों की दृष्टि में उत्तम समझी जाती रही हैं जिनमें गूढ़ता अधिक हो, क्योंकि उस गूढ़ता को स्पष्ट करने में जो विलंब लगता है उससे एक प्रकार की उत्सुकता की वृद्धि होती है। उनके विचार से यही स्वारस्य को अधिक बढ़ानेवाली होती है। पर यह केवल एक पड़ी हुई आदत का दोष है। गूढ़ता को लोगों ने उत्तम नहीं माना है। ऐसा न मानना भी स्पष्ट है। यदि कोई रचना पढ़ी गई और पाठक उसकी गूढ़ता को ढूँढ़ने में ही मग्न हो गया, तो फिर जितनी ही उसमें देर लगेगी, उसका हृदय भी उतना ही उदासीन होता जायगा। बहुत देर के बाद यदि बात खुली तो उससे आश्चर्य भले ही हो, पर भाव की मग्नता में आघात अवश्य पहुँचेगा। जो लोग कुतूहल को ही काव्य का सूत्र समझते हैं

उन्होंने काव्य के प्रकृत रूप को नहीं समझ पाया। कुतूहल तो कूट की उक्तियों में भी होता है, पर उन्हें कोई काव्य नहीं कहेगा। चित्रकाव्य की रचना, जिसे स्वयं चित्रकाव्य रचनेवाले ही गोरखधंधा कहते हैं, काव्य नहीं है। पंडितराज जगन्नाथ ने तो ऐसी रचनाओं से कुढ़कर उन्हें काव्य से एकदम बाहर कर दिया है।

प्रसंग की महत्ता के संबंध में अधिक न कहकर अब यह देखने की आवश्यकता है कि प्रसंग का विधान कवि लोग शृंगार की इन कविताओं में कैसा करते आए हैं। शृंगार की जो फुटकर रचनाएँ पहले संस्कृत में हुआ करती थीं वे बहुत बँधे हुए क्षेत्र में होती थीं। प्रबंध-काव्यों और नाटकों तक में कवि लोग केवल राजसी जीवन का ही चित्रण विशेष करते थे, अथवा प्रकृति के सुलभ क्षेत्र में पहुँचकर वनवासियों के जीवन का वर्णन भी कर दिया करते थे। पर आगे चलकर ये लोग पिछले क्षेत्र से हटने लगे और केवल उच्च वर्ग के लोगों का जीवन ही काव्य में अधिकांश रूप में वर्ण्य विषय हुआ। किंतु प्राकृत के क्षेत्र में पहुँचकर लोग सामान्य जीवन में भी प्रविष्ट हुए। इसी परंपरा पर चलने के कारण बिहारी में भी कुछ प्रसंग ऐसे मिलते हैं जो जीवन के सामान्य क्षेत्र से लिए गए हैं, पर उनकी रचना में उच्च वर्ग के जीवन का उल्लेख भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। तात्पर्य यह कि बिहारी ने प्रसंगों का चुनाव उच्च वर्ग के लोगों से भी किया और सामान्य जीवन से भी। इसके साथ ही एक बात और है। जो लोग नायिकाभेद की कविता को केवल राधाकृष्ण के ही संबंध में लिखी गई कविता मानते हैं वे लोग अवश्य भ्रम में हैं। क्योंकि कविता के लिखने में वे शास्त्रग्रंथों के कथनानुसार राधा-माधव को नायक-नायिका के रूप में दिखाया अवश्य करते थे, पर वह कविता राधा-माधव के प्रकृत जीवन को ही लेकर बराबर चलती रही हो, ऐसा मानने का पक्का प्रमाण नहीं मिलता और ऐसा मानना भी समीचीन नहीं ज्ञात होता। कवि लोगों की ऐसी मुक्तक-रचनाओं में राधा, माधव, कुंज आदि का नाम बहुत कुछ सामान्य रूप में ही हुआ है, विशिष्ट रूप में नहीं। हाँ, उन व्रजवासी कवियों की बात दूसरी है जो अपनी धार्मिक

भावना और भक्ति से प्रेरित होकर कविता रचा करते थे। पर साहित्यिक जीवों की कविता में तो ये नाम केवल प्रेमी, प्रेमिका और मिलन-स्थान की परिस्थिति के रूप में ही अधिकतर आया करते थे। बिहारी ने भी आरंभ में मंगलाचरण राधा की ही स्तुति से किया है और उसमें कुछ दोहे ऐसे भी आए हैं जिन्हें सिवा श्रीकृष्ण के जीवन के अन्यत्र नहीं लगाया जा सकता, पर अधिकांश दोहों में 'हरि' आदि नाम केवल विशेषत्व का खोल भर पहने हुए हैं, उनका प्रयोग सामान्यता को ही लेकर हुआ है। उदाहरण के लिए एकाध छंद लीजिए—

> लखि गुरुजन-बिच कमल सौं, सीसु छुवायौ स्याम।
> हरि-सनमुख करि आरसी, हियैं लगाई बाम॥—३४।

यहाँ श्याम और हरि शब्द केवल नाम के हैं। वे कृष्ण के लिए नहीं, सामान्य रूप से किसी नायक के लिए आए हैं। यदि कोई खोजना चाहे तो बहुत-से उदाहरण मिल जायँगे।

इसका कारण यह है कि कवि लोग जो कुछ भी अनुभव प्राप्त करते हैं वे अपनी चतुर्दिक की परिस्थिति और अपनी अवेक्षण शक्ति के द्वारा ही। यद्यपि उनकी कल्पना भी यथास्थान नाना प्रकार के चमत्कार दिखाया करती है, पर जिस कवि की अनुभूति जितनी विस्तृत होगी वही उतना अधिक जीवन का सौंदर्य देख सकेगा और उसे अपनी रचना में व्यक्त करने में भी समर्थ हो सकेगा; यद्यपि उस अनुभूति को व्यक्त करने की शक्ति होना भी एक अलग बात है। जब कवि ऐसी परिस्थिति में पड़ता है कि उसे उस प्रकार की बातों का अनुभव करने का अवसर प्राप्त हो जिन्हें वह अपने काव्य में व्यक्त करना चाहता है, तभी उसकी कविता में स्वारस्य आता है। बिहारी जिस वातावरण में पले थे उसमें इनके लिए उस प्रकार की अनुभूति के अवसर अधिक थे। पर उनकी सारी कविता का अवलोकन करने से पता चलता है कि उनकी सामान्य जीवन की उक्तियाँ वैसी नहीं हैं, जैसी उच्चवर्ग से संबंध रखनेवाली। कहीं-कहीं तो उन्हें 'नागरता के नाम' पर रोना भी पड़ा है। इससे यह

भी पता चलता है कि इनका जीवन वैसे ही वायुमंडल में विशेष बीता था।

इसी सिलसिले में एक बात यह भी कह देनी चाहिए कि बिहारी ने भी शृंगार के क्षेत्र में वही वर्ण्य सामग्री ली है जो और प्राचीन कवि लेते आए हैं, शृंगार की वे ही बातें बिहारी में बराबर आती रही हैं जो रूढिगत हैं। नायक-नायिकाओं के संबंध की वे ही बँधी हुई बातें बराबर आई हैं। विषय का विस्तार बिहारी में नहीं हो पाया है। प्रेम की कहा-सुनी का विस्तार बिहारी में बहुत अधिक नहीं है। रूप-चित्रण, विरह-वर्णन आदि का ही चित्रण करते हुए बिहारी विशेष देखे जाते हैं। खंडिता नायिका की रूढ़िगत उक्तियाँ इनमें भी बराबर और अधिक मिलती हैं। प्रेम के क्षेत्र में और भी कहने-सुनने की बहुत-सी बातें हो सकती थीं, पर बिहारी उस परंपरा से बहुत दूर नहीं गए। पर प्रसंगों की ऊहा करने में अवश्य इन्होंने अपनी विशेषता दिखाई है। बातें वे ही हैं, जमीन वही है, पर बिहारी ने उसी में नाना प्रकार के संदर्भ जुटाए हैं। इनकी बहुत-सी बातें तो ऐसी हैं कि यदि कोई साहित्य की रूढ़ि को न जानता हो तो शीघ्रता से अर्थ लगाना भी कठिन हो जाय। कहीं-कहीं प्रसंगों की ऊहा भी इतनी गूढ़ है कि जल्दी खुलती ही नहीं। इस प्रकार की कल्पना के लिए बिहारी की भाषा भी अत्यंत समर्थ है और इनमें उसके व्यक्त करने की क्षमता भी भरपूर है। रूढ़ि की इस विशेषता का दिग्दर्शन कराने के विचार से कुछ उदाहरण यहाँ पर दिए जाते हैं, इनसे पता चलेगा कि यदि रूढ़ि की जानकारी न हो तो कोई इनका सहसा अर्थ नहीं लगा सकता—

ढीठि परोसिनी ईठि ह्वै कहे जु गहे सयानु।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ मुसुकाहट मैं मानु ॥—३८३।

इस दोहे के पढ़ते ही कोई तुरत यह नहीं जान सकता कि कवि क्या कहना चाहता है। पर यदि नायिकाभेद की रूढ़ि से वह वाकिफ हो तो उसे तुरत जान पड़ेगा कि पड़ोसिन और कोई नहीं नायिका की सौत है। वही आज कुछ ढीठ बनकर हितुआ के रूप में नायिका के पास आई है

और उसके पति के लिए कुछ सँदेसे कह गई है—'तुम अपने पति से कह देना कि मेरे यहाँ कोई नहीं है, मेरा कुछ काम है, यदि वे मुझसे पूछकर मेरा कार्य कर देंगे तो बड़ी कृपा होगी।' नायिका ने पति के आने पर सब सँदेसे ज्यों के त्यों सुना दिए, और कहकर वह मुसकुराने भी लगी। इस मुसकुराहट के द्वारा उसने यह भी व्यक्त कर दिया कि आपकी जो पड़ोसिन पर प्रीति है उसे मैं जान गई हूँ। मुसकुराहट के द्वारा यह बात प्रकट करते हुए उसने मान भी व्यक्त कर दिया अर्थात् वह मान करने-वाली है, इसे भी नायक जान ले। नायिकाभेद के अभ्यासियों के अनुसार इसमें नायिका अन्य-संभोग-दुःखिता होगी। इतना बड़ा संदर्भ बिना समझे, इतने बड़े प्रसंग का बिना आक्षेप किए, इस दोहे का अर्थ प्रकट नहीं हो सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों ने इसके विचित्र-विचित्र और विभिन्न अर्थ कर डाले हैं। बानगी के लिए दो अर्थ दिए जाते हैं—

"सखी का बचन सखी से। पड़ोसिन से कहीं नायक मुसकुराया, इसे नायिका ने देख लिया। फिर वही पड़ोसिन नायक के कहने से मान छुड़ाने के लिए आई। इससे उसकी ढिठाई दृढ़ हुई। उसने हितकारिणी होकर नायिका से नायक के सब सँदेसे चतुराई से कहे, उसे निरपराध सिद्ध किया। फिर काकूक्ति करके कहा कि मुसकुराहट देखकर ही मान न कर बैठना चाहिए। जो पर-स्त्री से छिपकर बात की जाय या रति के चिह्न नायक के शरीर पर मिलें, तब मान करना ठीक है।"[1]

"किसी नायक की परोसिन से प्रीति थी। एक बार नायक को परोसिन से हँसते हुए नायिका ने देखा था, तब मान किया था। आज ऐसा मौका आया कि नायक विदेश जाने को तैयार हुआ तो नायिका व्याकुल हुई। परोसिन ने आकर नायिका से सहानुभूति जताई। तब नायिका ने कहा कि बहिन तू ही मेरी व्याकुलता का हाल सुनाकर नायक

---

१. लालचंद्रिका। (यहाँ लालचंद्रिका का भाव सुविधा के विचार से खड़ी बोली में दिया गया है और आवश्यकतानुसार उसमें कुछ शब्द जोड़कर भाव को और साफ कर दिया गया है।)

को समझा दे कि विदेश न जाय, पर ऐसी चतुराई से कहना कि मेरा कहना भी प्रकट न हो (क्योंकि नायिका मध्या है)। तब परोसिन ने नायिका का सब संदेशा बड़ी चतुराई से नायक को सुनाकर अंत में यह कहा कि एक समय वह था कि मुसकुराने पर नायिका ने मान किया था और आज ऐसा मौका आया कि उसीने आपसे एकांत में बातचीत करने तक की आज्ञा दे दी। अब आप मेरे कहने से रुक जाइए तो नायिका सदैव मेरी कनौड़ी रहेगी, तो फिर आपका और मेरा प्रेम भी निर्विघ्न चलता रहेगा। अब मुसकुराने की कौन बात प्रत्यक्ष बातचीत करते भी देख लेगी तो कुछ न कह सकेगी।" [१]

एक दूसरा उदाहरण लीजिए जो इससे कुछ सीधा है—

> बिथुर्‌यो जावकु सौति-पग निरखि हँसी गहि गाँसु।
> सलज हँसौंहीं लखि लियौ, आधी हँसी उसाँसु ॥—५०७

इसमें भी नायक-नायिका के प्रेम की वैसी ही चर्चा है। यदि कोई इस रूढ़ि को न जानता हो कि नायक प्रेम के प्रसंग में महावर लगाया करते हैं, उनके सात्त्विक भाव (कंप) से ऐसे-ऐसे आघात लोगों के हृदय पर बराबर होते हैं, तो कोई कुछ नहीं कह सकता। 'आधी हँसी उसाँसु' का तात्पर्य तभी खुलेगा। प्रसंग यह होगा कि कोई नायिका अपनी सौत के पैर में टेढ़ा-मेढ़ा महावर लगा देखकर इस व्यंग्य से हँसी कि इसे महावर लगाने का भी शऊर नहीं है। पर उसके हँसने पर सौत कुछ लज्जित हुई और हँसने-हँसने-सी हो गई। नायिका ने तुरत ताड़ लिया कि मेरे नायक ने ही इसके पैर में महावर पोता है, अंगस्पर्शजन्य कंप के कारण यह फैल गया है, इसलिए यह पूरी तरह हँसने भी नहीं पाई, बीच में ही उसाँस लेने लगी।

इस प्रकार की रूढ़ि के आधार पर टिकी रहनेवाली और गूढ़ ऊहा बिहारी में बराबर मिलती है। इसमें संदेह नहीं कि इसका प्रकट कर सकना बड़ी योग्यता और क्षमता का काम है, पर साथ ही यह भी मानने के लिए तैयार रहना चाहिए कि इस प्रकार की क्लिष्ट कल्पनाओं से काव्य

---

१. बिहारी-बोधिनी।

के चरम लक्ष्य तक पहुँचने में रुकावट भी पड़ती है। पर बिहारी की सारी कविता ऐसे ही ऊहात्मक प्रसंगों से भरी नहीं है। उन्होंने साफ प्रसंगों को ही अधिक लिया है और उनमें भी रससिक्त खंडों को। यों तो परंपरा उनका पीछा कहीं भी नहीं छोड़ती, पर उसके भीतर ही उन्होंने ऐसे-ऐसे प्रसंग ढूँढ़ लिए हैं जो उनकी काव्य-दृष्टि के विस्तार का परिचय देते हैं।

नाँक चढ़ै सीबी करै, जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै, प्यौ कँकरीली गैल ॥—६०६

यद्यपि इसमें भी प्रसंग की ऊहा कुछ टेढ़ी है, पर ध्यान देते ही प्रसंग स्पष्ट हो जाता है। नायक और नायिका देव-दर्शन के लिए नंगे पैर जा रहे हैं। नायक स्वयं तो कँकरीले मार्ग से चलता है, पर नायिका को चिकने रास्ते से ले चल रहा है, किंतु प्रेमाधिक्य से नायक के पैर में कंकड़ों के गड़ने से नायिका 'सी सी' करने लगती है। नायक को नायिका की यह मुद्रा भली लगती है, इसलिए वह भूल जाने का बहाना करके बारंबार कंकरीले रास्ते से ही चलने लगता है। इस दोहे में प्रसंग का विधान अच्छा है और साथ ही कवि की अवेक्षण शक्ति एवं भावुकता का भी परिचय मिलता है।

केवल परिस्थिति का वर्णन कर देने से भी भाव का चित्रण हो जाया करता है, कुछ कार्य-व्यापारों कर उल्लेख मात्र और होना चाहिए। एक इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसंग का विधान कितना आवश्यक है। इसको स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है—

सोवत लखि मन मानु धरि, ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही, सुपन की मिलनि मिलि, तिय हिय सौं लपटाइ ॥—२३३

यहाँ पर मान-मोचन में केवल परिस्थिति की ही करतूत दिखाई देती है। हाँ, दूसरी पंक्ति में कार्य-व्यापार का उल्लेख भी कर दिया गया है।

परिस्थिति और कार्य-व्यापार के उल्लेख से भाव एवं रस तक की व्यंजना हो सकती है, पर उसका यह तात्पर्य नहीं कि कवि लोग इन्हीं में अपना समय व्यतीत करें। प्रेम का प्रसार दिखाने के लिए नाना प्रकार के वाग्विनियम का भी उल्लेख आवश्यक होता है। प्रेम का संयोग-पक्ष

दिखलाने के लिए यदि केवल नायक-नायिकाओं की चेष्टाओं, छवि और रूप का ही वर्णन करके कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा समाप्त कर दी तो उसने कुछ नहीं किया। वस्तुतः प्रेम का विस्तार बहुत दूर तक है, उसे दिखलाने के लिए सारी सृष्टि पड़ी है। शृंगार के उद्दीपन-विभाव के अंतर्गत जो प्राकृतिक वस्तुओं का उल्लेख मिलता है, वह प्रेम के विस्तार को ही लेकर। और किसी रस में प्रकृति इस प्रकार उद्दीपन बनकर नहीं आ सकती। पर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि कवियों ने केवल बँधी हुई बातें ही कहकर प्रकृति की उपेक्षा की है। ऋतुओं का जो वर्णन होता है उसमें उन्हें संयोगी या बियोगी के भावों के अनुकूल या प्रतिकूल केवल कह भर दिया जाता है, ऋतुसुलभ अन्य सामग्री का उपयोग किया ही नहीं जाता। यहाँ प्रकृति के स्वतंत्र वर्णन से हमारा प्रयोजन नहीं है, वह तो एक दूसरी ही बात है। यहाँ अभिप्राय यही है कि प्राकृतिक सामग्री का उपयोग करने के लिए लोगों के पास दृष्टि ही नहीं रह गई थी। वे लोग महलों के बाहर निकलकर प्रेम का प्रसार देखना नहीं चाहते थे। सारी प्रेमलीला महल के भीतर, घर की दीवारों में घिरी हुई होती रही।

प्रेम का विस्तार दिखाने के लिए जिस प्रकार सौत और सखी की कल्पना तुरत कर ली जाती है, उसी प्रकार प्राकृतिक दृश्यों का संयोग उसमें नहीं किया जाता। नायिका यदि बगीचे में पहुँची तो पुष्पों पर महामारी आ गई, वह घर से बाहर निकली तो चंद्र बेचारा पांडु रोग से पीड़ित हो गया। इसे प्राकृतिक सामग्री का उपयोग कहा जाय या दुरुपयोग? बिहारी भी इस रोग से अछूते नहीं हैं। प्रसंगों की कल्पना सब जगह इसीलिए इनमें नयी-नयी नहीं मिलती। खंडिता नायिका और सौत के झमेले तो एक तिहाई रचना में हैं, शेष अंश में कुछ तो भावों का स्थूल वर्णन है और कुछ चेष्टाओं आदि का सूक्ष्म निरूपण।

बिहारी की नायिका को पड़ोसी, पड़ोसिन और सौत से ही फुरसत नहीं मिलती। कहीं वह पति की मुँदरी पड़ोसिन से छीन ले आती है और उसे पति को दिखलाकर उसे लज्जित करती है और कहीं उसकी

आँख की ललाई और सौत के पैर का महावर आँखें फाड़-फाड़कर देखती फिरती है। नायिकाभेद के इस पचड़े से छूटकर बिहारी ने कहीं-कहीं ग्राम की गँवारिनों को भी अपने दोहों का वर्ण्य विषय बनाया है। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, बिहारी की वृत्ति उसमें रमी नहीं, नागरता और नागरी की चटक-मटक के सामने उन्होंने उनको उतना महत्त्व नहीं दिया। उनके अबोध भाव पर कवि उतना मुग्ध नहीं हुआ। उन गँवारिनों के समाज में अगर कोई नागरी जा बैठे तो वह भी असभ्य समझी जाने लगेगी, इसी की चिंता कवि को मारे डालती है।

> नागरि, बिबिध बिलास तजि, बसी गवैंलिनु माँहि।
> मूढ़नि मैं गनबी कि तूँ, हूठ्यौ दै इठलाँहि॥[1]—५०६

फिर भी बिहारी का प्रसंग-विधान इस विचार से अवश्य उत्तम कहा जायगा कि उन्होंने परंपरा के फेर में पड़कर केवल पुरानी बातों को ही अपने छंदों में नहीं बाँधा है, उसी को नये ढंग से रखा है। कहीं-कहीं कवि ने सामाजिक शिथिलता को लेकर मनुष्य की कमजोरी की अच्छी चुटकी ली है। देखिए एक वैद्यजी की पत्नी उनके वागाडंबर पर किस प्रकार मुसकुरा रही है—

> बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
> बैदबधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि॥—४७९।

वैद्यजी स्वयं तो नपुंसक हैं, पर दूसरे की नपुंसकता दूर करने के लिए खूब माल लेकर और बड़े एहसान से पारे की भस्म दे रहे हैं। वैद्यजी की पत्नी उनकी इसी करतूत पर हँस रही है, अर्थात् पारे में यदि ऐसी ही शक्ति है तो अपनी नपुंसकता क्यों नहीं दूर कर ली।

इसी प्रकार एक पौराणिकजी का चरित्र देखिए—

> परतिय-दोषु पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।
> कसु करि राखी मिश्र हूँ, मुँह-आई मुसकानि॥—२६४।

कोई पौराणिकजी 'परस्त्री-गमन' का दोष सुना रहे थे, 'चतुर्थीचंद्र-

---

१. देखो प्रो० मनोरंजनप्रसादसिंह एम० ए० का 'बिहारी का ग्राम-वर्णन' शीर्षक लेख (जागरण, भाग १, अंक १)।

लेखेव' परस्त्री का बहिष्कार करने का उपदेश दे रहे थे, पर स्वयं उस दोष के अपराधी थे। उनकी परकीया नायिका उसी श्रोतृ-मंडली में बैठी थी, वह मुसकुराने लगी। पौराणिकजी ने व्यंग्य को समझकर बड़ी कठिनाई से अपनी हँसी रोकी, पर मुँह पर मुसकान आ ही गई।

इसी प्रकार एक ज्योतिषीजी की वेदना और प्रसन्नता का संकर देखिए—

चित पितमारक-जोगु गनि, भयौ, भयैं सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारग-जोगु ॥—५७५।

किसी ज्योतिषि को एक पुत्र हुआ उसने लड़के की कुंडली देखी तो उसमें पितृमारण योग था, इसलिए उसे बड़ा दुःख हुआ। पर तुरत उसकी दृष्टि दूसरे योग पर पड़ी, तो लड़का किसी जार का जान पड़ा। इससे वह प्रसन्न हुआ कि मेरी जान बची (और शत्रु भी मारा गया)।

इस प्रकार के प्रसंगों की ऊहा में बिहारी ने जो समय लगाया, वह यदि प्रेम के शुद्ध एवं पवित्र क्षेत्र में लगाया होता तो उनकी कविता में और ही बहार होती।

दोहे की समास-पद्धति

दोहा एक मात्रिक छंद है। इसके चारों चरणों में सब मिलाकर ४८ मात्राएँ होती हैं। यदि अक्षरों की गणना की जाय तो इसमें कम से कम २५ और अधिक से अधिक ४६ अक्षर आ सकते हैं। इतने छोटे से साँचे में कवि को कितनी ही बातें कहनी रहती हैं। भाव की सारी सामग्री या रस का समूचा चक्र स्थापित करने की जगह इसी के भीतर करनी पड़ती है। कवित्त, सवैया आदि बड़े छंदों में यह बात नहीं होती, उनमें कहने के लिए एक पूरा मैदान मिलता है। इसलिए दोहे में सफलतापूर्वक कुछ कहना-सुनना कठिन बात है। जिसमें समास-पद्धति से अपनी वाणी को व्यक्त कर सकने की सामर्थ्य होगी वही दोहे में भली भाँति कुछ कह सकता है। यही कारण है कि दोहे में रचना करनेवाले कवि शीघ्र सफल नहीं होते। हिंदी में दोहे का प्रचलन बहुत अधिक हुआ। संस्कृत में अनुष्टुप का प्रयोग जितनी अधिकता से होता है उतनी ही अधिकता से हिंदी में दोहे का प्रयोग होता है और हुआ है। पर जिस प्रकार संस्कृत में अनुष्टुप की रचना कठिन और सरल दोनों ही है, वैसे ही हिंदी में दोहे की भी। संस्कृत में जिस प्रकार केवल शुद्ध काव्य ही में पद्यरचना के लिए अनुष्टुप का प्रयोग नहीं होता रहा, उसी प्रकार हिंदी में दोहे का भी। इस दृष्टि से इन दोनों की रचना लोगों ने अवश्य ही सरलता की दृष्टि से की होगी, इसे अधिकता से ग्रहण करने का दूसरा अभिप्राय है ही क्या? पर संस्कृत के पिंगलाचार्यों के बनाए नियमों के अनुसार चलने से अनुष्टुप की रचना उतनी सरल नहीं प्रतीत होगी। ठीक इसी प्रकार दोहे के पिंगल पर भी यदि विचार किया जाय तो इसमें भी वैसी ही कठिनाइयाँ हैं। इसके हंस, मयूर आदि २१ भेद किए गए हैं और इसकी रचना के संबंध में मात्राओं की मैत्री का भी बड़ा विचार है। पर इसपर लोगों ने ध्यान उसी प्रकार कम दिया है जिस प्रकार अनुष्टुप की रचना में संस्कृतवालों ने। पिंगल की दृष्टि से यदि बिहारी के दोहों पर विचार

किया जाय तो मोटे रूप में यही कहना चाहिए कि उन्होंने इसकी रचना बड़ी सावधानी से की है। त्रिकल, द्विकल और यति का ध्यान इन्होंने बराबर रखा है। गति तो बिहारी के दोहों की बहुत ही मस्तानी है। इसका कारण यही है कि बिहारी समास-पद्धति की सारी कला भली भाँति जानते थे। थोड़े में बहुत कहने की शक्ति इनकी भाषा में थी। इनमें वह शक्ति थी कि ये किसी भाव को व्यक्त करने के लिए समुचित उपकरणों को जुटा सकते थे—ऐसे उपकरणों को जिन्हें ये दोहे के छोटे-से दायरे के भीतर भली भाँति बैठा सकें। दोहे की इस सामासिकता को ध्यान में रखकर ही रहीम ने कहा था—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमिटि कूदि चलि जाहिं॥—रहीम-दोहावली, ९६।

नट जब किसी गोल घेरे और विशेषतः जलते हुए घेरे के बीच से निकलना चाहता है तो अपने शरीर को भली भाँति समेटकर, शरीर को खूब तौलकर उछलता है और उसके भीतर से पार हो जाता है। ठीक इसी प्रकार दोहे में भी शब्दों को खूब समेटना पड़ता है, उन्हें सामासिक रूप में लाना पड़ता है, उन्हें खूब तौलकर रखना पड़ता हैं। जिस प्रकार जौहरी किसी आभूषण में रत्नों को जड़ता है, उसी प्रकार दोहे में शब्द बैठाए जाते हैं। शब्दों को इसीलिए ठीक-ठीक बने हुए दोहे से निकाला जाय तो दोहा उसी प्रकार सूना दिखाई देने लगेगा जिस प्रकार आभूषण किसी रत्न के गिर जाने से सूना जान पड़ने लगता है। यही कारण है कि रहीम ने दोहे की प्रशंसा में एक दूसरी उक्ति लिखकर उसकी इस कारीगरी से होनेवाली विशेषता का भी उद्घाटन किया है—

रूप कथा पद चारु पट, कंचन 'दोहा' लाल।
ज्यों ज्यों निरखत सूक्ष्म गति, मोल रहीम बिसाल॥—रहीम-दोहावली, २४१।

जिस प्रकार सूक्ष्मतया किसी रत्न के देखने से उसकी नयी-नयी खूबियाँ दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार दोहे में ऐसी विशेषता आनी चाहिए कि उसका जितनी ही बारीकी से अवलोकन किया जाय, उसकी नयी-नयी खूबी निकलती आए। अन्य दोहाकार कवियों की बात अलग है, पर

बिहारी में यह गुण बराबर मिलता है। इसी बात पर लक्ष्य करके किसी ने कहा है कि—

सतसैया के दोहरा, ज्यौं नावक के तीर।
देखत को छोटे लगैं, भाव करैं गंभीर॥

नलिका के द्वारा चलाए गए तीर छोटे होने पर भी भारी घाव करते हैं। बिहारी के दोहे छोटे होने पर भी भारी चोट करते हैं, हृदय पर उनका प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। बिहारी की इस समास-पद्धति का उद्घाटन करने के लिए एक संस्कृत का ऐसा बड़ा श्लोक लीजिए जिसका भाव बिहारी ने अपने दोहे में रखा है—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥—अमरुकशतक, ८२।

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुहुँ चूम्यो ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ॥—६४२।

दोनों में अंतर इतना ही है कि दोहे में नायिका किसी से अपना दास्तान सुना रही है और संस्कृत श्लोक में प्रेमलीला का ही कथन है, उसे चाहे कवि की उक्ति मानिए चाहे किसी सखी का पारस्परिक वार्तालाप। बिहारी ने उसी भाव को बड़े संक्षेप में अपने दोहे में कहा है। अमरुक ने परिस्थिति का वर्णन स्पष्ट शब्दों में कर डाला है, पर बिहारी ने उसे पाठकों के ऊपर छोड़ दिया है। अमरुक में चेष्टाओं और अनुभावों का कथन भी कुछ विस्तार से है, पर बिहारी ने थोड़े शब्दों में ही वे सब बातें कह डाली हैं। ऐसी शक्ति बिहारी की कहन की विशेषता है। इसी विशेषता के कारण वे समास-पद्धति में सफल हो सके हैं। अमरुक के शब्दों को चाहें तो संक्षेप में कह सकते हैं, पर बिहारी के यहाँ एक अक्षर हटाने की भी जगह नहीं है। यही चुस्ती इस प्रकार के छंदों के लिए आवश्यक हुआ करती है। बिहारी ने दूसरी पंक्ति में जो नायक-नायिका के पर्याय-व्यापारों का चित्रण किया है वह भी बड़ी खूबी के साथ।

किसी कवि की समास-पद्धति की विशेषता देखने के लिये यह देखना आवश्यक है कि उसने सांगरूपकों का निर्वाह ऐसे छोटे साँचे में किस प्रकार किया है और पर्याय-व्यापारों को किस ढंग से रखा है कि वह जो कुछ व्यक्त करना चाहता है, भली भाँति व्यक्त हो जाता है या नहीं। साथ ही उसने अनेक भावों और चेष्टाओं को किस ढंग से बैठाया है। यदि बिहारी के दोहों को देखा जाय तो पता चलेगा कि उन्होंने बड़ी सफलता के साथ सभी बातों का निर्वाह किया है। पहले दो-एक सांग-रूपकों की चुस्ती देखिए—

खौरि-पनिच, भृकुटी-धनुष, बधिकु-समरु, तजि कानि।
हनतु तरुन-मृग, तिलक-सर, सुरक-भाल भरि तानि॥—१०४।

इस दोहे में धनुष का रूपक है। धनुष चलाने में पहले तो दो पक्ष होते हैं—एक बाण चलानेवाला, दूसरा लक्ष्य। बाण चलानेवाले के पास धनुष और बाण होते हैं। धनुष में भी एक तो लचकीली लकड़ी लगी रहती है और दूसरे उसमें एक डोर होती है, जिसे प्रत्यंचा कहते हैं। बाण में उसका दंड और सिरे पर 'फल' या 'अनी' होती है। इसके अतिरिक्त बाण चलाने के लिए और किसी वस्तु को विशेष आवश्यकता नहीं है। केवल तरकस की कमी रह जाती है, पर यहाँ पर जिस बाण का कवि वर्णन करना चाहता है वह राम के बाण की भाँति अमोघ है, फिर लौट आता है। इसलिए तरकस की विशेष आवश्यकता नहीं। इतनी सब बातों का रूपक कवि ने किस खूबी के साथ इस दोहे में बाँधा है, यह खूबी कवि की समास-पद्धति के ही कारण आ सकी है। सिर पर लगी खौर प्रत्यंचा, भृकुटी धनुष, तिलक बाण और सुरक भाल (अनी) है। चलानेवाला (बधिक) कामदेव और तरुण लोग लक्ष्य मृग हैं। यही नहीं, कार्य-व्यापार का भी उल्लेख है, 'भरि तानि' भी है।

दोहे और सोरठे में कोई विशेष अंतर नहीं होता, दोनों ही एक दूसरे के चरणों के हेरफेर से बन जाते हैं। इसलिए जो बात दोहे के लिए है वही सोरठे के लिए भी समझनी चाहिए। रूपक की यही खूबी एक सोरठे में भी देख लीजिए—

कौड़ा आँसू बूंद, कसि साँकर बरुनी सजल।
कीने बदन निमूँद, दृग-मलिंग डारे रहत ॥—२३०।

मलिंग या मलंग एक प्रकार के मुसलमान फकीर होते हैं, जो उसी प्रकार ईश्वर के ध्यान में मग्न रहा करते हैं जैसे हमारे यहाँ के योगी या औघड़। ये लोग अपने शरीर को कौड़ों की लड़ियों और लोहे की साँकलों से उसी प्रकार कसे रहते हैं, जैसे अलख जगानेवाले काले बाल की डोर से अपना शरीर कसकर निकलते हैं। इनके स्वरूप को रूपक में बाँधने के लिए कौड़ा और लोहे की जंजीर के अतिरिक्त उनका शांत भाव से बैठकर चुपचाप ध्यान करना मात्र और उल्लेखनीय बात है। इन सब बातों को सोरठे के छोटे से दायरे में भली भाँति बैठा दिया गया है।

साम्यमूलक सांगरूपक को छोड़कर वैषम्यमूलक एक अलंकार में व्यापारों के समावेश की चुस्ती भी देखिए। सूत यदि उलझ जाय तो वह टूट जाया करता है, फिर उसे जोड़ना पड़ता है और जोड़ने पर उसमें गाँठ पड़ जाती है। इसी को लेकर कवि ने असंगति अलंकार का स्वरूप खड़ा किया है। जो सूत उलझता है वही टूटता है, उसे जोड़ा जाय तो जुड़ता भी वही है और गाँठ भी उसी में पड़ती है। पर प्रेम के क्षेत्र में बातें अनोखी हुआ ही करती हैं। इसी नयी रीति को कवि इस दोहे में कह रहा है—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई, नई यह रीति ॥—३६३।

इसमें भी सूत्र के टूटने और जुड़ने की जितनी बातों का उल्लेख दोहे में है, उससे अधिक की आवश्यकता उक्त उलझन में नहीं होती। सभी को कवि ने इस दोहे के घेरे में भली भाँति बैठा दिया है और एक चरण में आश्चर्य व्यक्त करने की जगह भी निकाल ली है। रहीम ने जो नटों का सा सिमटना कहा है वह इसी सिमटने के लिए।

अलंकारों के संबंध की चुस्ती छोड़कर भावों और चेष्टाओं की चुस्ती की ओर आइए। श्रीकृष्णजी ने व्रज की रक्षा के लिए गोवर्धन उठाया था। बीच में कहीं उनकी नजर राधिका पर जा पड़ी, इसलिए प्रेमोद्रेक

के कारण उन्हें कंप सात्त्विक हो गया। उनका हाथ काँपने लगा, पर्वत डगमगाने लगा। ब्रज के सब लोग यह दशा देखकर बड़े विह्वल हो गए। जब श्रीकृष्ण को यह बात ज्ञात हुई तो उन्हें बड़ी लज्जा आई। इतना लंबा-चौड़ा प्रसंग इस छोटे से दोहे में ही बड़ी कारीगरी से रख दिया गया है, ऐसी कारीगरी से कि कहीं यह नहीं जान पड़ता कि कवि ने ठूँस-ठाँसकर भाव भरा है—

डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल॥—६८१।

यदि रहीम की घोषणा के अनुसार दोहे की सूक्ष्मतया परीक्षा की जाय तो उसका मोल बढ़ने लगेगा। यहाँ लाल के लज्जित होने में प्रेम के लक्षित हो जाने की आशंका भी है और रक्षा करने में शैथिल्य होने का ध्यान आना भी लज्जा का कारण है।

विरह की दशा के निरूपण में बाह्य व्यापारों का यह चित्रण भी कितना चुस्त है—

पलनु प्रगटि बरनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतियाँ, छिनकु छनछनाइ, छिपि जात॥—६६६।

बिहारी के इस अश्रु-वर्णन से मिलता-जुलता कालिदास के 'कुमार-संभव' में पार्वती की तपस्या में वर्षा के प्रथमजलबिंदुपात का वर्णन भी है। देखिए—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
बलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभि प्रथमोदबिन्दवः॥—कुमार-संभव, ५।

दोहे में अश्रुबिंदु चार स्थानों पर पहुँचता है—पल, बरुनी, कपोल और छाती पर; और श्लोक में भी प्रथमोदबिंदु चार स्थानों पर जाते हैं—पक्ष्म, अधर पयोधर और बलि। नाभि का नाम इसलिए नहीं लिया कि बिहारी के दोहे में अंततोगत्वा आँसू भाव बनकर अदृश्य हो जाता है और श्लोक में उसकी अंतिम गति नाभि में जाकर स्थिरता प्राप्त

करना वर्णित है। इसलिए जो यात्रा बिहारी ने उक्त छोटे से दोहे में दिखाई है कुछ कुछ वही बड़े श्लोक में केवल स्थान-भेद से कालिदास ने। यह कर्तृत्व केवल समास-पद्धति के ही कारण बिहारी में आ सका है।

केवल एक उदाहरण और लीजिए। इसमें नायिका की चेष्टाओं का कैसा सिमटा हुआ और क्रम से पूर्ण चेष्टा-वर्णन है—

भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु, इँची आगें आवति जाति॥—६८३।

बिहारी को इस समास-पद्धति की सारी शक्ति उनकी भाषा की चुस्ती और सामर्थ्य में है। वे भाषा को कितना समेट सकते हैं यह बराबर इनके दोहों में दिखाई पड़ता है। ऊपर जितने उदाहरण दिए गए हैं, सभी में यह बात तुरत दिखाई पड़ जाती है। यहाँ पर केवल थोड़े से उदाहरण दिए गए हैं। बिहारी के सैकड़ों दोहे उदाहरण में दिए जा सकते हैं। बल्कि कहना यह चाहिए कि बिहारी का कोई भी ऐसा दोहा नहीं है जो चुस्त न हो, समास-पद्धति जिसमें बिलकुल न हो। वृंद आदि कवियों की भाँति अधिकपद और कथितपद ऐसे दोष तो बिहारी में मिलेंगे ही नहीं, साथ ही न्यूनपदत्व भी बिहारी में कम मिलेगा, क्योंकि इनकी भाषा इतनी सशक्त और व्यंजना इतनी बहुल होती है कि न्यूनपदत्व की स्थापना करने में भी कठिनाई है। इसी से कवि की पिंगल-विषयक शक्ति का परिचय मिल सकता है।

दोहे की रचना करनेवालों में मात्राओं की कमी-वेशी बहुतों में मिलती है, यहाँ तक कि तुलसीदासजी में भी; कहीं-कहीं तो उनमें प्रवाह भी खंडित दिखाई देता है। पर बिहारी में यह बात नहीं है, न कहीं मात्राएँ कम-वेश मिलेंगी और न कहीं प्रवाह टूटता हुआ मिलेगा। इसी लिए बिहारी ने जिस किसी भाव को दोहे में बाँधा उसी में उन्होंने सफलता प्राप्त की। छोटे छंदों की रचना करनेवालों में बिहारी एक इसी बात से अलग दिखाई पड़ते हैं। कभी-कभी लोग किसी के दोहों को पढ़कर जो कह दिया करते हैं कि यह बिहारी का सा है अथवा किसी दूसरे के दोहे को सुनकर जो लोगों को उसमें बिहारीत्व का भ्रम होता है, वह

इसी चुस्ती और सफाई के कारण। यही कारण है कि बहुत से इसी ढंग के अन्य कवियों के दोहे तक बिहारी के नाम पर प्रसिद्ध हो गए और कितने ही प्राचीन टीकाकारों ने उन्हें बिहारी का समझकर बिहारी-सतसई में रख तक दिया। जैसे रसलीन का यह दोहा—

अमी, हलाहल, मद-भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

बिहारी की जानकारी

किसी कवि की जानकारी से तात्पर्य उसके साहित्यिक ज्ञान के अतिरिक्त लोक के अन्य विषयों की जानकारी से भी है। इसीलिए मम्मटाचार्य ने कवि की जानकारी के लिए काव्य के अनुशीलन के साथ-साथ शास्त्र और लोक का अध्ययन एवं निरीक्षण भी माना है।[1] काशी के एक बहुत बड़े संस्कृत के विद्वान् कहा करते थे कि मैंने केवल साहित्य पढ़ा है, यद्यपि वे ज्ञाता थे सभी शास्त्रों और विषयों के। इस उक्ति का तात्पर्य यही था कि साहित्य की जानकारी के भीतर संसार के सभी विषयों की जानकारी आ जाती है। कवि केवल प्राचीन परंपरा के काव्य-ग्रंथों का अनुशीलन करके ही अपनी जानकारी नहीं बढ़ाता, वह लोक के भीतर भी अपनी आँखें खोलकर चलता है और अपने काव्य के लिए वहाँ से भी सामग्री का संग्रह करता है। पर इस सामग्री के संग्रह का यह तात्पर्य नहीं है कि यदि कोई कवि ज्योतिष, वैद्यक, गणित आदि का विशेष रूप से अध्ययन करे तो वह उन शास्त्रों अथवा विषयों की ऐसी बातें भी काव्य में लाने लगे जो साधारणतया सुबोध नहीं हैं। काव्य के भीतर तो सभी विषयों का एक सामान्य परिचय भर अपेक्षित होता है, ऐसा परिचय जिसके कारण कवि अपने काव्य में कोई ऐसी बात न कह बैठे जो किसी शास्त्र या विषय के सिद्धांत या वस्तुस्थिति से विरुद्ध पड़ती हो। पर कवियों की प्रवृत्ति को देखते हुए यह भी कहना पड़ता है कि उन लोगों ने अपने ऐसे ज्ञान का दुरुपयोग भी किया है। जिन उक्तियों में किसी विशेष शास्त्र या विज्ञान के सहारे कोई अर्थ भासित होने लगेगा वे उक्तियाँ काव्य के वास्तविक लक्ष्य से निश्चय च्युत हो जायँगी। संस्कृत के कवियों ने भी स्थान-स्थान पर ऐसा किया है और हिंदी के कवियों ने भी यथास्थान ऐसी बातें रखी हैं, जिनसे उनका थोथा पांडित्य मात्र

---

१. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥—काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

प्रदर्शित होता है। और तो और महात्मा तुलसीदासजी ने भी अपनी दोहावली में कुछ दोहे ऐसे ही रखे हैं।

यहाँ कवि की जानकारी के संबंध में जो बातें ऊपर कही गई हैं उनका तात्पर्य यह नहीं है कि यदि हम किसी कवि के छंद में किसी शास्त्र या विज्ञान के साधारण नियम का प्रयोग देखें, ऐसे नियम का प्रयोग जो सर्वसाधारण में भली भाँति जाना-समझा जा सकता है, तो हम उस कवि को उस शास्त्र का कोई बड़ा भारी विशेषज्ञ ही मान लें। हिंदी में लोग कहीं-कहीं ऐसा भी लिखते देखे जाते हैं। यदि कवि ने गणित के शून्यवाले नियम को लेकर दसगुना होने का उल्लेख कर दिया तो वह बड़ा भारी गणितज्ञ घोषित कर दिया गया। किसी कवि ने 'सुदर्शन' नाम श्लेष से लिया नहीं कि वह धन्वंतरि कह डाला गया। पर यह कोई बड़ी बात नहीं है कि इसके लिए हम कवि को नाना शास्त्रों का बड़ा भारी प्रकांड पंडित कह डालें। प्राचीन काल में ब्राह्मण लोग विद्यार्थियों को केवल साहित्य ही नहीं पढ़ाया करते थे, वे और विषयों की शिक्षा भी उन्हें दिया करते थे। अब भी पछाँह में पुराने ढंग के पंडित साहित्य की थोड़ी-बहुत जानकारी के साथ गणित भी जानते हैं, पत्रा भी खोलते हैं और यदि गाँव में किसी को रोग हुआ तो उसकी नाड़ी भी धरते हैं—पुड़िया भी बाँधकर दे दिया करते हैं। इसलिए उन्हें इन सबका एक स्थूल ज्ञान भी होता ही है। यदि ब्राह्मण लोग कविता करने बैठें तो उनकी कविता में इन शास्त्रों या विषयों के संबंध की मोटी बातों का आ जाना एक साधारण बात है। इसके लिए उन्हें उस विषय या शास्त्र का प्रकांड पंडित नहीं कहा जा सकता।

बिहारी की कविता में भी इसी प्रकार की जानकारी के प्रमाण मिलते हैं। दो-एक स्थलों को छोड़कर उनकी अन्य शास्त्रों या विषयों की जानकारी का जो भी प्रमाण मिलता है वह इतना साधारण है कि उसे लेकर उन्हें उन विषयों का पंडित कहने पर हँसी आती है। थोड़ी-सी ज्योतिष की कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं जो उन्होंने एकदम साधारण न रखकर कुछ विशेष रखी हैं। पर ये बातें सुनी-सुनाई भी हो सकती हैं।

राजदरबारों में उन्हें इस प्रकार के कितने ही अवसर प्राप्त थे। इसलिए उन्हें अन्य शास्त्रों का प्रकांड पंडित कहना किसी प्रकार जँचता नहीं। उन विषयों की उन्हें जानकारी अवश्य थी और यह कोई अभूतपूर्व बात नहीं। उदाहरण के लिए एक दार्शनिक तत्त्व को ही ले लीजिए। भारतवर्ष में प्राचीन समय में जो दार्शनिक खोज हुई, वह केवल ऋषियों के ग्रंथों में ही बंद नहीं रह गई, उन लोगों ने जनता की नस-नस में वह भावना भर दी है। भारतीय जीवन में प्रतिदिन दार्शनिक विचारों की बातें वे अपढ़ भी कहते-सुनते देखे-सुने जाते हैं जिन्हें साधारणतः लोग मूढ़ या जड़ कहा करते हैं। 'यह संसार असार है', 'यहाँ किसी का कोई नहीं', 'ईश्वर सब जगह है' आदि बातें भारत के छोटे से छोटे और अपढ़ से अपढ़ व्यक्ति के मुँह से सुनी जाती हैं। श्मशान में जब लोग एकत्र होते हैं तो इससे भी अधिक दार्शनिकता उनके मुँह से सुनी जा सकती है। इसलिए भारत में इन दार्शनिक बातों को कोई आश्चर्य की दृष्टि से नहीं देखता। यदि कोई कवि इन बातों का उल्लेख अपनी कविता के भीतर करे तो वह बड़ा भारी दार्शनिक माना जाय, यह बात किसी प्रकार समझ में नहीं आती। बिहारी ने इस प्रकार की बातें अपनी कविता में लिखी हैं और हमारे यहाँ के पंडितों ने उन्हें इसी बात के लिए बड़ा भारी दार्शनिक कह डाला है। उदाहरण लीजिए—

> मैं समुझ्यौं निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
> एकै रूपु अपार, प्रतिबिंबित, लखियतु जहाँ॥—१८१।

इस तरह का ब्रह्मज्ञान भारत में छोटे से छोटा व्यक्ति भी कहते हुए सुना जा सकता है। इसी प्रकार बिहारी ने दर्शनशास्त्र के कई प्रचलित और सामान्य सिद्धांतों को भी अपनी कविता में प्रयुक्त किया है, कहीं तो उनका स्वतंत्र वर्णन है और कहीं वे आलंकारिक लपेट में आए हैं—गौण रूप से उपमा, रूपक आदि का काम देते हैं। पर उन सबके देखने से कोई बिहारी का ऐसा भारी प्रयत्न नहीं लक्षित होता कि उन्हें हम भारी दार्शनिक मानने के लिए विवश हो जायँ, दो-एक स्थानों पर योग की भी चर्चा है, मुसलमानी फकीरों का उल्लेख भी आया है। क्या इनके

आधार पर बिहारी योगिराज अथवा पहुँचे हुए फकीर कहे जायँ ? वस्तुतः कवि को संसार की अधिक से अधिक जानकारी रखनी चाहिए और बिहारी में ऐसी जानकारी थी। सामान्य जीवन से उन्होंने बहुत-सी सामग्री अपनी कविता में उपयोग करने के लिए ली। उन्होंने अनुभव की कितनी ही बातें लिखी हैं, यह केवल अपनी व्यापक काव्यदृष्टि के कारण, अपना बाहरी विषयों के संबंध का ज्ञान व्यक्त करने के लिए नहीं। जिन दार्शनिक उक्तियों को लेकर बिहारी की दार्शनिक योग्यता की गहराई नापी जाती है वे नीचे उद्धृत कर दी जाती हैं, दो-एक का उल्लेख ऊपर हो चुका है—

अजौं तर्‌यौना हीं रह्यौ, श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥—२०।
जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहि।
ज्यौं आँखिनु सब देखियैं, आँखि न देखी जाँहि॥—४१।
दूरि भगत प्रभु पीठि दै, गुन-बिस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट ही, चंग-रंग भूपाल॥—४१८।
बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किऐं नीठि ठहराइ।
सूछम कटि परब्रह्म की अलख लखी नहिं जाइ॥—६४८।
जोग-जुगुति सिखए सबै, मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता, काननु सेवत नैन॥—१३।

अब बतलाइए इनमें से केवल कुछ दोहों में कवि की चमत्कारिक उक्ति के अतिरिक्त कौन-सी बहुत बड़ी बात कही गई है, जो भारतीय जनसमाज में अप्रसिद्ध हो। हाँ, यह सभी को स्वीकर हो सकता है कि बिहारी ने कौशलपूर्वक इन बातों को दिखलाया है। इसे यदि मान भी लिया जाय तो क्या नीचे लिखी इन उक्तियों से उन्हें हम कोई बड़ा भारी गणितज्ञ समझ लें—

कहत सबै, बेंदी दियैं, आँकु दसगुनौ होतु।
तिय-लिलार बेंदी दियैं, अगिनितु बढ़तु उदोतु॥—२२७।

कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़ि गौ इतौ उदोतु।
बंक बिकारी देत ज्यौं, दामु रुपैया होतु॥—४४२।

ऊपर जो बातें लिखी गई हैं उन्हें मामूली पुड़िया बाँधनेवाला एक बनिया तक जानता है। स्वयं बिहारी भी इसे अपनी कोई बड़ी भारी विशेषज्ञता नहीं बतलाते, वे भी कहते हैं—'सबै कहत'। अलकशतक और तिलशतक लिखनेवाले मुबारक ने इस प्रकार के न जाने कितने बाँधनू बाँधे हैं,

वैद्यक की एक उक्ति पहले दी जा चुकी है जिसमें 'पारद‌भस्म' की चर्चा आई है।[1] नीचे के दोहे में 'नारी' शब्द के प्रयोग के कारण उन्हें यदि कोई धन्वंतरि का अवतार कहे, तो इस जमाने में आश्चर्य की बात नहीं—

मैं लखि नारी-ज्ञानु, करि राख्यौ निरधारु यह।
वहई रोग-निदानु, वहै बैदु ओषधि वहै॥—५५७।

'सुदर्शन' का प्रयोग तो बराबर कवियों की कविता में मिलता है, 'पुटपाक' आदि का पूरा विधान तुलसीदासजी की 'कवितावली' में रूपक की लपेट में दिखाया गया है, इसके लिए कोई उन्हें वैद्यराज नहीं कहता। बिहारी ने नटों और बाजीगरों के खेलों[2] को भी अप्रस्तुत के रूप में ग्रहण किया है, खेत की फसलों का नाम भी सहेट आदि के प्रसंग में आया है,[3] अत्तारों के अर्क खींचने की रीति भी एक दोहे में वर्णित है,[4] नटसाल का भी कई स्थानों पर उल्लेख है।[5] इसी प्रकार कितनी ही सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, लौकिक यहाँ तक कि अलौकिक बातों का भी उल्लेख उन्होंने कविता में अधिकांश अप्रस्तुत के रूप में किया है। इससे उनकी व्यापक काव्यदृष्टि तो अवश्य प्रकट होती है, पर इसीलिए यह कहना कि इन सबमें वे पारंगत थे, समीचीन नहीं जँचता। उनकी अवेक्षण-शक्ति अत्यंत तीव्र थी, उन्होंने अपनी इस शक्ति को अपनी कविता में भली भाँति दिखाया है। अप्रस्तुत में बहुत सामान्य

१. देखो ऊपर पृष्ठ ५७। २. बिहारी-सतसई, १६३। ३. वही १३५। ४. वही ३७८। ५. वही ३७५।

बातों को लेकर उन्होंने अपनी काव्य-मर्मज्ञता भी दिखाई है। केवल ज्योतिष की दो-एक बातें ऐसी अवश्य हैं जो साधारणतया प्रचलित नहीं। इसके अतिरिक्त ज्योतिष की भूमिका पर उन्होंने अपेक्षाकृत उक्तियाँ भी अधिक कहीं हैं। संभव है, इस विषय की उन्हें विशेष जानकारी रही हो। यदि केशव से उनका संबंध था तो उन्हें इस विषय का अच्छा ज्ञान प्राप्त होने की संभावना अवश्य है। केशव के पूर्वपुरुष काशीनाथ का 'शीघ्रबोध' प्रसिद्ध है। उनके वंश में 'पुराण-वृत्ति' भी चलती रही। पौराणिक लोगों को कामचलाऊ और व्यावहारिक गणित और फलित ज्योतिष का ज्ञान भी प्राचीन काल में रखना पड़ता था। पहले कहा जा चुका है कि ब्राह्मणों को ज्योतिष और वैद्यक का सामान्य ज्ञान रखना ही पड़ता था। पर बिहारी के इस दोहे को लेकर जब उनके 'तिथिपत्र' ज्ञान की चर्चा चलने लगती है तो तिथिपत्र के साथ ही हिंदी के भी भाग्य खुलने लगते हैं—

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौईं रहै आनन-ओप-उजास ॥[1]—७३।

क्या इस दोहे में ज्योतिष के किसी विशेष ज्ञान की व्यंजना है? हाँ, निम्नलिखित दोहे ऐसे अवश्य हैं जिनमें उनके विशिष्ट ज्योतिष-ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है, अर्थात् इनमें ऐसी बातें हैं जो साधारणतया बहुप्रचलित नहीं कही जा सकतीं—

सनि-कज्जल चख-झख-लगन, उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेसु सबु देहु ॥[2]—५।

---

१. इसी प्रकार 'अवम' तिथिवाला दोहा भी, बिहारी-सतसई, २७५।

२. इस दोहे में फलित ज्योतिष के इस फल का आधार लिया गया है—

तुलाकोदण्डमीनस्थो लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः।
करोति नृपतेर्जन्म वंशे च नृपतेर्भवेत् ॥—जातक-संग्रह, राजयोगप्रकरण, १५।

(तुला, धनु और मीन का शनि यदि लग्नस्थान में पड़े तो ऐसी कुंडलीवाला राजा होता है अथवा राजा के वंश में जन्म धारण करता है।)

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड गुरु।
इक नारी लहि सगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥[1]—४२।
तिय तिथि तरुन-किसोर-बय पुन्य काल-सम दोनु।
काहूँ पुन्यनु पाइयतु बैस-संधि-संक्रोनु ॥—२७४।
भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराजि।
इंदुकला कुज मैं बसी, मनौ राहु-भयभाजि ॥—६६०।

ऊपर ज्योतिष की जिन उक्तियों का उल्लेख किया गया है उनकी काव्योपयोगिता का भी प्रश्न स्वभावतः खड़ा होता है। एक तो केवल रंगों के आधार पर अप्रस्तुत का ठीक विधान करने के लिए सूर्य-मंडल से ग्रहों का उतारना ही समीचीन नहीं प्रतीत होता, फिर जीवन, जगत् या प्रसंग की वे ही बातें गृहीत की जानी चाहिएँ जो सामान्यतया सुलभ हैं, जो अधिक संपर्क में आया करती हैं। इसलिए इस प्रकार की उक्तियाँ केवल चमत्कारातिशय की ही व्यंजना करके रह जाती हैं, भाव के क्षेत्र में इनका प्रवेश ही नहीं है। अच्छा हुआ कि बिहारी ने इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत अधिक नहीं लिखीं।

अब तक जिस बात का विचार हुआ उससे स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य की जानकारी के अतिरिक्त बिहारी को सभी बाहरी विषयों की जानकारी भी सामान्य रूप में थी, संसार के सब प्रकार के अनुभवों को लेकर उन्होंने काव्य के भीतर उन्हें यथास्थान प्रयुक्त किया। इससे उनकी दूर तक दौड़नेवाली दृष्टि और साथ ही तीव्र अवेक्षण-शक्ति का पता चलता है। सामान्य जीवन से और अधिकतर साधारण जनता में प्रचलित अथवा प्रसिद्ध बातों को लेकर ही उन्होंने काव्य के भीतर उन्हें प्रस्तुत या अप्रस्तुत के रूप में दिखाने का प्रयत्न किया है। इससे उनकी व्यापक काव्यदृष्टि का पता चलता है।

---

१. एकनाडीसमारूढौ चंद्रमाधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही ॥—नरपतिजयचर्या, ३—२६।
[चंद्रमा, मंगल और साथ ही बृहस्पति यदि एक नाड़ी (वर्षा की) में स्थित हों तो वर्षा से पृथिवी समुद्र बन जाय।]

उनकी साहित्यिक जानकारी के संबंध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। उनकी जो जो विशेषताएँ लक्षित कराई गई हैं और आगे जिनका उद्‌घाटन किया जायगा, उन सभी से उनकी साहित्यिक योग्यता का परिचय बराबर मिलेगा। उन्होंने संस्कृत-साहित्य का भली भाँति अध्ययन किया था, मुक्तकों की प्राकृत और अपभ्रंश की परंपरा से भी वे पूर्ण परिचित ज्ञात होते हैं, रीति-शास्त्र की बातें उनके छंदों में बहुत साफ मिलती हैं। अलंकार कई दोहों में बहुत स्पष्ट पड़े हैं, रस की चारों बातें कई दोहों में बड़े ढंग से जुटी हैं आदि। उनकी भाषा इतनी गठी हुई, समर्थ और सशक्त है कि केवल वही उनकी साहित्यिक योग्यता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। शब्दों के प्रयोग, वाक्य-विन्यास और संस्कृत-शब्दों के प्रयोग उनकी योग्यता और जानकारी को साफ प्रकट करते हैं। इतनी विस्तृत जानकारी और उसको उपयोग करने की ऐसी क्षमता रखनेवाला दूसरा कवि हिंदी में नहीं दिखाई पड़ता, यह बात दूसरी है कि समय की हवा के सामने उन्होंने पीठ ही रखी, छाती नहीं की। इसी से इनकी वह प्रतिभा, योग्यता और जानकारी बहुत अधिक विशाल घेरे में नहीं जा सकी। पर वह जहाँ है, अपनी एक विशेषता लिए हुए है।

अलंकार-योजना और अप्रस्तुत-विधान

काव्य में अलंकारों की आवश्यकता वैसी ही है जैसी शरीर पर आभूषणों की। प्राचीन काल में अलंकारों का प्राधान्य माना जाता था,[1] आगे चलकर लोगों ने यहाँ तक कह दिया कि काव्य केवल अलंकार के ही कारण ग्राह्य है। उन्होंने अलंकारों को शरीर के बाह्य आभूषणों की भाँति न मानकर काव्य का सौंदर्य ही माना था।[2] कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लगे कि काव्य में जो अलंकारों का नित्य ग्रहण नहीं मानते उनका हठ उसी प्रकार का है जैसे अग्नि का अस्तित्व तो माना जाय, पर उष्णता को स्वीकार न किया जाय। ऐसी स्थिति में, अलंकार की प्रधानता न माननेवाले को आग को उष्णतारहित मानना चाहिए।[3] पर काव्य के ठीक स्वरूप को समझनेवाले अलंकारों को हारादिवत् बाह्य आभूषणों की भाँति ही मानते रहे। उन्होंने अलंकारों को काव्य का अस्थिर धर्म ही माना है।[4] इसलिये जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर पर आभूषण न होने पर भी उस व्यक्ति का अस्तित्व रहता ही है, उसी प्रकार अलंकार का प्रयोग न होने पर भी काव्य रहता है। शब्दार्थ का बोध कराने के लिये सर्वत्र अलंकारों की योजना आवश्यक नहीं होती, यथावसर उसका प्रयोग बराबर होता आया है और होना भी चाहिए।

आजकल अलंकारों का विरोध बड़े जोर से किया जा रहा है, पर जो लोग अलंकार का विरोध करते हैं अथवा अलंकारों का अधिक

---

१. 'अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति' प्राच्यानां मतम्।—अलंकार-सर्वस्व।

२. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति।

३. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।—चंद्रालोक।

४. काव्यप्रकाश।

प्रयोग करने के कारण हिंदी के पुराने कवियों को खरी-खोटी सुनाते रहते हैं उनकी कविता भी अलंकारों से लदी हुई मिलती है। किसी विषय को हृदयंगम कराने के लिये वे लोग अप्रस्तुतों का इतना अधिक विधान कर देते हैं, या अप्रस्तुत व्यापारों को बारंबार सामने लाकर वे लोग मूल विषय को इतना ढक देते हैं कि विषय कहीं-कहीं जमता ही नहीं। इसका कारण यही है कि अलंकार भावों को व्यक्त करने की एक शैली है, वह बराबर काव्य में व्यवहृत होती चली आ रही है और व्यवहृत होती रहेगी। अलंकारों के बिना काव्य में काम तो चल सकता है, पर व्यवहार में अधिकतर उसका उपयोग बराबर होता रहता है। अलंकार की योजना काव्य के कला-पक्ष के भीतर आती है और कला-पक्ष काव्य में अनिवार्य नहीं तो आवश्यक अवश्य है।

जिस प्रकार संस्कृत में कुछ दिनों तक अलंकारों का प्राधान्य रहा, उसी प्रकार हिंदी के मध्ययुग में शृंगार के साथ-साथ अलंकारों का भी प्राधान्य हो गया। मध्ययुग के केशवदासजी चमत्कारवादी थे, उन्होंने संस्कृत के पुराने दंडी आदि आचार्यों की ही पद्धति पर काव्य का स्वरूप खड़ा किया था। उनकी जमाई हुई परिपाटी का रीति के क्षेत्र में भले ही किसी ने अनुकरण न किया हो पर काव्य के क्षेत्र में उसका पूरा प्रभाव पड़ा। मुसलमानी राज्य के कारण भी फारसी की चमत्कारवाद-वाली प्रवृत्ति हिंदी के कवियों में बढ़ती हुई देख पड़ी। इसीलिए उस युग में बहुत-से कवियों ने ऐसे-ऐसे ही अलंकारों का अधिक उपयोग करना प्रारंभ कर दिया जो शुद्ध चमत्कार उत्पन्न करनेवाले थे, वस्तु के स्वरूप या भाव की अनुभूति कराने में सहायक होनेवाले नहीं। अलंकार के दो स्थूल भेद माने गए हैं—एक तो शब्दालंकार और दूसरे अर्थालंकार। इनमें से शब्दालंकार केवल शुद्ध चमत्कार को ही लेकर बने हैं। उनका उपयोग करने में सावधानी की आवश्यकता होती है, जरा-सा भी आधिक्य हुआ कि वे कोरे चमत्कार ही रह जाते हैं, काव्य में सहायक नहीं। काव्य में अधिक सहायक अर्थालंकार ही होते हैं। इसीलिए महर्षि वेदव्यास ने उसके बिना सरस्वती को विधवा कहा

है।[1] अर्थात् अर्थालंकारों की योजना न होने से कविता सूनी जान पड़ती है। पर उनके कथन को बहुत दूर तक ले जाकर यह नहीं कहा जा सकता कि कविता में अर्थालंकार भर देना ही काव्यत्व है। गहनों से लदकर जिस प्रकार सौभाग्यवती स्त्री लद्धड़ हो जाती है उसी प्रकार कविता भी। इसलिये अलंकारों की योजना पर सावधानी के साथ दृष्टि रखनी चाहिए।

अब अलंकारों की योजना पर थोड़ा विचार करना चाहिए। अलंकारों का प्रयोग कवि लोग दो प्रकार से करते हुए देखे जाते हैं—एक स्वतंत्र रूप में और दूसरे परतंत्र या सहायक के रूप में। स्वतंत्र रूप में अलंकारों का प्रयोग वहीं है जहाँ कवि केवल चमत्कार दिखलाना चाहता है, मूल-विषय को हृदयंगम कराने की ओर उसकी दृष्टि नहीं रहती। पर परतंत्र या सहायक के रूप में जहाँ अलंकारों का उपयोग होगा वहाँ वे चमत्कार उत्पन्न करते हुए न जान पड़ेंगे, वे मूल विषय या भाव को हृदयंगम कराने के प्रयत्न में लगे जान पड़ेंगे। स्वतंत्र रूप में आए हुए अलंकार काव्य के भीतर नहीं आते, क्योंकि काव्य का लक्ष्य है किसी वस्तु या भाव को हृदयंगम कराना और दूसरे के हृदय में उसके प्रति किसी प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करना, पर ऐसे अलंकार यह कार्य कुछ भी नहीं करते। जहाँ अलंकार प्रधान हो जायँगे वहाँ अलंकार्य का स्वरूप छिप जायगा; देखनेवाले की दृष्टि अलंकार पर ही जमी रह जायगी, मूल विषय पर न जायगी। पर परतंत्र या सहायक के रूप में जो अलंकार आएँगे वे काव्य की अनुभूति उत्पन्न करने में साधक होंगे, बाधक कभी नहीं।

अब बिहारी की अलंकार-योजना पर आइए। बिहारी में कुछ रचनाएँ शुद्ध चमत्कार उत्पन्न करनेवाली भी मिलती हैं, यह बात उनको सामने रखते ही झलकने लगती है। देखिए—

तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उरबसी, ह्वै उरबसी-समान॥—२५।

---

१. अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।—अग्निपुराण।

इस दोहे में 'उरबसी' के यमक के अतिरिक्त और क्या है? कवि राधिका का जो स्वरूप दिखाना या उनके रूप का जो प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है उसमें यह यमक कुछ भी सहायक नहीं है। इसके चमत्कार के सामने उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। यहीं तक नहीं अलंकाराभ्यासियों की दृष्टि से इसमें एक अलंकार-दोष भी आ पड़ा है। कवि के प्रयत्न के अनुसार यमक का सच्चा चमत्कार तब होता जब इस दोहे के चारों चरणों में 'उरबसी' शब्द आता, पर दूसरे चरण में यमक नहीं है। इसलिए यह यमक एक पैर से लँगड़ा है। वे लोग इसमें 'यमक-दोष' मानते हैं और इसे शब्द के 'अप्रयुक्त' दोष के भीतर ले जाते हैं।[1] उन लोगों के अनुसार यमक का यह उदाहरण कुछ-कुछ निर्दोष कहा जायगा—

पल सोहैं पगि पीक-रँग, छल सो हैं सब बैन।
बल सोहैं कत कीजियत, ए अलसौंहैं नैन ॥—४६८।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ भी चमत्कार दिखाने के प्रयत्न में ही कवि लगा है। इस दोहे में 'लसोहैं' का यमक है। किंतु पहली पंक्ति में 'सो' है और दूसरी में 'सौं', पर यमक आदि का विधान करनेवालों ने कवियों को कुछ विशेषाधिकार भी प्रदान किए हैं। वे लोग यमक की सिद्धि के लिए जिस प्रकार 'ब' और 'व' में अंतर नहीं मानते उसी प्रकार 'ओ' और 'औ' में भी। इसलिए उनकी दृष्टि से यहाँ यमक ठीक समझा जायगा। हाँ, 'उरबसी' में जैसा सार्थक-पद यमक था, वैसा यह अवश्य नहीं है, यहाँ निरर्थक और अक्षरों के समूहमात्र का यमक है। यमक का एक उदाहरण और देखिए—

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं, हरि! नीके ए नैन ॥—६७।

यहाँ भी नेत्रों के सौंदर्य और प्रभाव को व्यक्त करने की ओर कवि की दृष्टि उतनी नहीं है जितनी अलंकार को जमाने की ओर। यमक को छोड़कर उसी प्रकार के एक दूसरे अलंकार का उदाहरण लीजिए—

---

१. काव्य-कल्पद्रुम, दोष-प्रकरण।

कत लपटइयतु मो गरैं, सो न जुही निसि सैन।
जिहि चंपकबरनी किए, गुल्लाला-रँग नैन॥—४६६।

इस दोहे में मुद्रालंकार है। मुद्रालंकार अर्थालंकारों में से है। उसमें प्रकरण-प्राप्त अर्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ का संकेत भी किया जाता है। मुक्तकों में यह संकेत किन्हीं एक प्रकार की वस्तुओं के नाम आदि का निकलना ही देखा जाता है। इस प्रकार नामों का जो संकेत निकलता है वह बहुत कुछ शब्दों की बनावट पर निर्भर रहता है, इसलिए इस प्रकार के मुद्रालंकार में शब्दालंकारों की सी स्थूलता आ जाती है। जैसे ऊपर के दोहे में प्रौढ़ा या खंडिता नायिका की उक्ति के भीतर फूलों के नाम गुथे हुए हैं। मोगरा, सोनजुही, चंपक और गुल्लाला तो बहुत साफ है, इनके अतिरिक्त टीकाकारों ने और भी फूल ढूँढ़ निकाले हैं, जैसे लपटैया = इश्कपेंचा, निसिसैन = कमल, बरनी = वर्णा, नैन = पंचनयना। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि इन्हीं फूलों को दोहे के साथ उलझाने में उलझा हुआ है, उसके सामने मूल अर्थ दब गया है।

शब्दश्लेष का चमत्कार देखिए—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि; ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥—६७७।

बिहारी का यह बहुत प्रसिद्ध दोहा है। पर अलंकार के फेर में इसकी खूबी बहुत कुछ बिगड़ गई है। श्लेष के अतिरिक्त और क्या हाथ लगा? चमत्कार पर मुग्ध होनेवालों ने भी इसमें दोष माना है। वे 'गाय-बैल' के इस जोड़े में 'ग्राम्यत्व' दोष मानते हैं।[1] कुछ लोगों ने इसे सखी का परिहास कहकर दोषमुक्त बतलाया है[2] और कुछ भाष्यकारों ने विलक्षण-विलक्षण प्रसंगों का आक्षेप करके इस दोष पर कलई करने का प्रयत्न किया है,[3] पर 'गाय-बैल' से आगे वे किसी प्रकार नहीं जा सके। इसे जाने दीजिए, दूसरा प्रसिद्ध दोहा लीजिए—

---

१. बिहारी-बिहार—पं० अंबिकादत्त व्यास।
२. बिहारी सतसई की भूमिका—पं० पद्मसिंह शर्मा।
३. बिहारी-रत्नाकर।

अजौं तर्‌यौना हीं रह्यौ, श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतनु कैं संग ॥—२० ।

इस दोहे में बहुत उत्तम शब्दश्लेष है, ठीक! पर जिस 'तर्‌यौना' का वर्णन हो रहा है उसमें यह श्लेष क्या चमत्कार दिखा रहा है? अथवा उसका इसमें क्या वर्णन हुआ? पढ़ने वाला केवल बिहारी के श्लेष पर लट्टू होकर रह जायगा। ऊपरवाले दोहे में 'गाय-बैल' का ध्यान न दें तो आलंकारिकों की दृष्टि से 'सम अलंकार' व्यंग्य होगा। पर यहाँ मुक्त लोग स्वर्गवासी हो गए हैं! वर्णन भी उन्हीं के साथ आसमान पर चला गया होगा!

केवल अनुप्रास का एक उदाहरण और देख लीजिए—

रस सिंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना, खंजनु गंजनु, नैन ॥—४६ ।

यहाँ भी अनुप्रास का चमत्कार ही चमत्कार हाथ रह गया है, पद्माकर की 'कुंजन केलिन' आदि में ककार की भरमार के लिए निंदा की जाती है, ठीक वैसी ही यह बिहारी की रचना प्रस्तुत है।

पर इन उदाहरणों के प्रस्तुत करने का तात्पर्य यह नहीं है कि बिहारी में ऐसे ही दोहे भरे पड़े हैं। इनके चमत्कारी दोहों की संख्या इनी-गिनी है। बिहारी की अलंकार-योजना बहुत कुछ काव्योपयुक्त ही रही है। जैसे ऊपर के अनुप्रास के ही ढंग पर बना दूसरा दोहा ले लीजिए—

रनितभृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ, कुंजरु-कुंज समीरु ॥—३८८ ।

इस दोहे में अनुप्रास, यमक, वीप्सा आदि कई शब्दालंकार उलझे पड़े हैं, पर कहीं से भी दोहे का स्वरूप नहीं बिगड़ने पाया है। भाषा की इस झंकार के द्वारा उलटा सौंदर्य आ गया है। हाथी के मस्तानी चाल से आने और कुंज-समीर के बहने की झंकार का आभास इस दोहे को पढ़ते ही कानों को मिल जाता है। इस अनुकरण की अँगरेजी में बड़ी प्रशंसा है।

इसे यहीं छोड़कर दो-एक उदाहरण ऐसे लीजिए जिनमें साफ अलंकार

भी है और रूप या भाव की अनुभूति में भी सहायता पहुँचती है। असंगति वाला प्रसिद्ध दोहा ही ले लीजिए—

> दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
> परति गाँठि दुरजन-हियैं, दई, नई यह रीति॥—३६३।

यहाँ पर असंगति अलंकार का चमत्कार बहुत साफ है। पर वह प्रेम के कारण उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियों की विचित्रता की अनुभूति कराने में बाधक नहीं है। अलंकार इतना स्पष्ट है, पर उसपर ध्यान जाते ही तुरत पाठक प्रेम की परिस्थिति पर भी पहुँच जाता है। काव्य में जब अलंकार से होकर किसी भाव या रूप की व्यंजना तक पहुँचा जाता है तभी वह काव्य का ठीक सहायक होता है, जब भाव या विषय अलग पड़ा रहता है और अलंकार अलग, तब अलंकार फालतू होने के अतिरिक्त बाधक भी बन बैठता है।

एक दोहा और लीजिए—

> अधर धरत हरि कैं परत, ओठ-डीठि-पट-जोति।
> हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्रधनुष-रँग होति॥—४२०।

यहाँ तद्गुण अलंकार माना जाता है। किंतु बिहारी ने यह रंगों की मिलावट ऐसी कर दी है जो तद्गुण अलंकार के कथित चमत्कार से कुछ भिन्न है। तद्गुण अलंकार में एक वस्तु प्रधान होती है और दूसरी गौण। गौण वस्तु प्रधान वस्तु का गुण ग्रहण कर लेती है और अपना रंग खो देती है। जैसे हथेली पर रखे मोती का हाथ की ललाई से मूँगा हो जाना। पर यहाँ बाँसुरी ओठ, दृष्टि और पट के रंगों को ग्रहण करके भी अपने हरे रंग को सुरक्षित रखता है, उसका हरा रंग एकदम दब नहीं जाता। वह भी मेल में पड़ा हुआ है। फिर भी चमत्कार यहाँ तद्गुण का ही है। इस अलंकार के द्वारा बाँसुरी के उस स्वरूप का अनुभव करने में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती, उलटे वह दृश्य और स्पष्ट होकर सामने आ जाता है।

इस बखेड़े को यहीं छोड़कर अब बिहारी के अप्रस्तुत-विधान पर

विचार करना चाहिए। किसी प्रस्तुत या उपमेय के लिए जो अप्रस्तुत या उपमान लाया जाता है उसमें कभी-कभी केवल सादृश्य-मात्र रहता है और कभी-कभी सादृश्य के साथ-साथ साधर्म्य भी होता है। अप्रस्तुत वही उत्तम समझा जाता है जिसमें प्रस्तुत का सादृश्य और साधर्म्य दोनों हों। यह अप्रस्तुत-योजना केवल एक ही पदार्थ के लिए नहीं होती, कभी-कभी पूरी परिस्थिति के लिए अप्रस्तुत-योजना करनी पड़ती है। स्फुट पदार्थों के लिए अप्रस्तुत का विधान अलग-अलग होने में कवि का कौशल चाहे अधिक न दिखलाई पड़े, पर जब कोई कवि किसी परिस्थिति के अनुरूप अप्रस्तुत-विधान करता है, उसके लिए कोई वैसी ही अप्रस्तुत परिस्थिति या व्यापार सामने रखता है तो उसके कौशल को देखने का पूरा अवसर प्राप्त होता है। अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकारों के द्वारा अप्रस्तुत-योजना होती है। इन साम्यमूलक अलंकारों की संख्या बहुत है। पर इन सबमें से अधिक प्रयोग उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का ही होता है, उपमा और रूपक में स्फुट और समन्वित दोनों रूपों में अप्रस्तुत-योजना होती है, पर उत्प्रेक्षा में बहुधा समन्वित रूप में ही अप्रस्तुत-योजना दिखाई पड़ती है। इस प्रकार की योजना करने में वही कवि समर्थ हो सकता है जिसकी अवेक्षण-शक्ति तीव्र हो। बिहारी ने अप्रस्तुत-योजना के लिए इन्हीं अलंकारों का अधिक सहारा लिया है। रूप-वर्णन में उन्होंने प्रायः उत्प्रेक्षा को ही ग्रहण किया है।

उत्प्रेक्षा के उदाहरण प्रस्तुत करनेके पूर्व थोड़ा उत्प्रेक्षा में आई हुई कल्पित व्यापार-योजना पर भी विचार कर लेना चाहिए। उत्प्रेक्षा अर्थात् स्वरूपोत्प्रेक्षा में जो अप्रस्तुत वस्तु लाई जाती है वह दो प्रकार की होती है—एक कवि-कल्पित नवीन वस्तु या दृश्य और दूसरे केवल संभाव्य। पहले प्रकार की रूप-योजना में वही अधिक अच्छी हो सकती है जिसकी कल्पना पाठक भी बड़े मजे में कर सके अर्थात् वह उसके लिए सरलतापूर्वक ग्राह्य हो। यहाँ पर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उसका रमणीय होना भी आवश्यक है, ऊटपटाँग अप्रस्तुत-योजना काव्योपयुक्त न हो सकेगी। अब बिहारी का एक उदाहरण लीजिए—

सोहत ओढ़ैं पीतु पटु, स्याम, सलोनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर, आतपु पर्‌यौ प्रभात ॥—६८९।

यहाँ दूसरी पंक्ति में जो स्वरूपोत्प्रेक्षा की गई है उसमें नील-मणि का पर्वत एक कल्पित उपमान है, पर वह ग्राह्य है। पाठक बड़े मजे में ऐसे काले पहाड़ की कल्पना कर सकता है। इसलिए यह उत्प्रेक्षा अच्छी कही जायगी। कुछ लोगों का कहना है कि स्वरूपोत्प्रेक्षा में असंभावित उपमान ही लाए जाने चाहिएँ, वे लोग संभावित उपमानों की कल्पना को उपमालंकार का ही विषय मानते हैं। पर कवियों के ग्रंथों में दोनों प्रकार की वस्तुत्प्रेक्षाएँ मिलती हैं। बिहारी ने संभावित पक्षवाली कितनी ही उत्प्रेक्षाएँ की हैं, कहीं कहीं उन्होंने उसे उपमा के रूप में भी रखा है। देखिए—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन।
मानहु सुरसरिता-बिमलजल, उछरत जुग मीन ॥—५७६।

यहाँ पर गंगा के स्वच्छ जल में दो मछलियों का उछलना संभावित उत्प्रेक्षा ही है। यदि केवल दो मछलियों का ही उल्लेख होने से कोई इसे शुद्ध संभावित उत्प्रेक्षा का उदाहरण मानने में आनाकानी करे तो उसे बिहारी का यह दोहा देखना चाहिए—

लसतु सेतसारी-ढक्यौ, तरल तर्‌यौना कान।
पर्‌यौ मनौ सुरसरि-सलिल, रबि-प्रतिबिंब बिहान ॥—१०६।

यहाँ पर गंगा के जल में प्रातःकाल सूर्य की किरणों का प्रतिबिंबित होना असंभावित नहीं है। बात यह है कि स्वरूपोत्प्रेक्षा में कवि लोग जो संभावना करते हैं वह अधिकतर दृश्य को ही दृष्टि में रखकर। कभी-कभी ऐसी संभावना दृश्य-जगत् में कठिनाई से मिलती है, इसीसे उन्हें कल्पित उपमानों को सामने रखना पड़ता है। इसलिए उत्प्रेक्षा के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें जो संभावना की जाती है उसमें दृश्य-विधान सदा कल्पित ही होना चाहिए। उपमा और उत्प्रेक्षा के भीतर दृश्य-विधान के विचार से यदि भेद किया जाय तो दोनों में प्रायः यह अंतर देखने में आता है कि उपमा के भीतर लाया हुआ उपमान-पक्ष

उपमेय-पक्ष से बहुत कुछ समता रखता है, उसमें बड़े-बड़े दृश्यों की समता नहीं रखी जाती पर उत्प्रेक्षा में जो रूप ग्रहण कराया जाता है उसमें उपमान-पक्ष की कल्पना बड़े रूप में भी बड़े मजे में की जा सकती है। उत्प्रेक्षा में इस दृष्टि से सादृश्य पर अधिक ध्यान न देकर उसके प्रभाव-साम्य पर विशेष दृष्टि रखी जाती है, पर उपमा में सादृश्य की भावना उससे कहीं अधिक होती है। इसीलिए बिहारी ने जहाँ बड़े दृश्यों की कल्पना रमणीयता एवं प्रभाव के विचार से की है वहाँ तो उन्होंने उत्प्रेक्षा का सहारा लिया है, पर जहाँ रूप-ग्रहण में सादृश्य की प्रधानता रखी है वहाँ उपमालंकार से ही काम चलाया है। नीचे के दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

छिप्यौ छबीलौ मुँहु लसै, नीलैं अंचर-चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी कैं नीर॥—५३८।

यहाँ पर नीले आँचर के भीतर चमकते हुए मुँह के लिए जो दृश्य लाया गया है उसमें उसकी रमणीयता और उसके देखने से होनेवाले प्रभाव पर विशेष दृष्टि है, इसलिए जो संभावना की गई है वह सादृश्य को लेते हुए भी इसी की ओर अपना अधिक लक्ष्य रखती हुई दिखाई पड़ रही है। कालिंदी में चंद्रमा का चमकना कुछ बड़ा दृश्य है, पर उसका विधान उत्प्रेक्षा के सहारे बड़े मजे में हो जाता है। पर जहाँ सादृश्य पर अधिक दृष्टि रहती है वहाँ वह उत्प्रेक्षा में न आकर उपमा के अंतर्गत आता है। उदाहरण लीजिए—

सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि होति।
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन-जोति॥—३४०।

यहाँ पर कवि का लक्ष्य सादृश्य की ओर अधिक है। यद्यपि रमणीयता और प्रभाव भी यहाँ बढ़िया है, पर प्रधानता सादृश्य की है और दृश्य-विधान भी उसके अनुकूल है। इसीलिए बिहारी ने उपमा से ही काम लिया है। उपमा और उत्प्रेक्षा के इस प्रकार के अंतर पर कवियों ने अधिक दृष्टि नहीं रखी है, इसलिए सभी कवियों की कविता में यही मानदंड लेकर चलना निराश होने का ही कारण होगा।

ऊपर जितने उदाहरण दिए गए हैं उन्हीं से बिहारी के अप्रस्तुत रूप-विधान का कौशल स्पष्ट हो गया होगा। पर बिहारी ने सर्वत्र ऐसा नहीं किया है। केशव के प्रभाव के कारण समझिए या चमत्कार की रुचि के कारण बिहारी में कहीं-कहीं ऐसा अप्रस्तुत-विधान भी पाया जाता है जो केवल शास्त्रकथित रूप-रंग को ही लेकर कर दिया गया है, उसमें रूप-ग्रहण कराने और रमणीयता उत्पन्न करने पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। उपमान या उपमान-पक्ष की योजना रूप-ग्रहण कराने के लिए भी होती है और अवसर के अनुकूल प्रभाव डालने के लिए भी। किसी नायिका की आँखें कमल के पत्र की भाँति कही जायँगी, पर किसी क्रोध में भरे व्यक्ति की आँखों के लिए यही कहा जाता है कि वे अंगारे की तरह लाल हो गईं। इसलिए जहाँ बिहारी केवल रंग का सहारा लेकर ऐसे-ऐसे रूपक बाँध बैठ ते हैं वहाँ उनकी दृष्टि केवल चमत्कार में ही अँटकी हुई माननी पड़ेगी—

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥—४२।

इस दोहे में कवि ने उपमान के लिए आकाश से तारे उतारे हैं। केवल रंग का साम्य, और वह रंग भी ज्योतिष की पुस्तकों में वर्णित, ही यहाँ है। नायिका के मुख पर बिंदु, केसर आदि के कारण जो शोभा होती है उसका दृश्य सामने लाने में यह नक्षत्र-संस्था किसी प्रकार समर्थ नहीं है। सूर और तुलसी ने भी राम और कृष्ण के बालरूप के वर्णन में नक्षत्रों की संस्था उपमान के रूप में उतारी है और वहाँ भी केवल रंग का ही साम्य अधिक है। पर उनमें दो बातें और हैं—एक तो वहाँ वे नक्षत्र बालकों के मस्तक पर के बालों में गुथे हुए रत्नों या रंग-बिरंगे मोतियों के लिए उपमान-रूप में लाए गए हैं, इसलिए दृश्य जगत् में नक्षत्रों का जो छोटा-सा मोती के दाने या नग का सा आकार दिखाई देता है वह भी रंग के अतिरिक्त ध्यान में आता है अर्थात् वहाँ रूप-साम्य भी है। दूसरे उन्होंने उपमान-पक्ष की संभावना उत्प्रेक्षा के ही रूप में की है, जहाँ कथितार्थ साध्य होता है, रूपक की भाँति सिद्ध नहीं।

इसलिए उनके कथनों की संगति बहुत कुछ बैठ जाती है। पर बिहारी के इस दोहे की संगति नहीं बैठती। शायद ऐसा कहने पर बिहारी के पिट्ठू किसी ग्रंथ से बृहस्पति का तिलक के ऐसा आकार दिखलाने का हौसला भी कर बैठें, पर यह सब होने पर भी ज्योतिष के सूत्र का जो विधान यहाँ किया गया है उसके लिए क्या होगा ? क्या उसे भी काव्योपयोगी ही माना जाय ? क्या इस प्रकार ज्योतिष के सूत्रों को घटाना यह नहीं बतलाता कि कवि रूप-साम्य आदि की ओर न जाकर केवल रंगों को लेकर ही यह ऊधम मचा रहा है ? लोचन-जगत् में कौन-सा साम्य मानें ? इन सब प्रश्नों के लिए प्राचीन आचार्यों के प्रसिद्ध न्यायालय सहृदयों के हृदय की ही शरण लेनी पड़ेगी। सहृदय ही विचारें !

बिहारी के ऐसे दोहे कई हैं। ज्योतिष का जैसा बखेड़ा इन्होंने खड़ा किया वैसा कुछ-कुछ केशव ने ही किया है, अच्छे कवि इस झमेले से दूर ही रहे हैं। और उदाहरण देखिए—

> भाल-लालबेंदी-छए, छुटे बार छबि देत।
> गह्यौ राहु, अति आहु करि, मनु ससि सूर-समेत ॥—३५५।

अवश्य यहाँ उत्प्रेक्षा के रूप में काव्यार्थ साध्य है, पर प्रस्तुत प्रसंग में इसके प्रयोग को केवल कवि की कल्पना की गहराई या ऊँचाई बतलानेवाला भले ही समझा जाय, उसके मेल में उसी प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करनेवाला तो कभी नहीं माना जा सकता।

और लीजिए—

> भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराजि।
> इंदुकला कुज मैं बसी, मनौ राहु-भय भाजि ॥—६६०।

बात इसमें भी वैसी ही है। नवग्रह की पोथियों के रंगों पर ही यह बखेड़ा खड़ा हुआ है। उत्प्रेक्षा होने पर भी यह कल्पना ऐसी नहीं है जो प्रस्तुत के अनुरूप भाव भी ला सके। कवि की दूर की उड़ान अवश्य दिखाई पड़ती है।

चंद्रमा का सुत-स्नेह भी देख लें—

तिय-मुख लखि हीरा-जरी, बेंदी बढ़ै बिनोद।
सुत-सनेह मानौ लियौ, बिधु पूरन बुधु गोद ॥—७०७।

यहाँ पर 'बुध' का रंग ज्योतिष की पोथियों में वर्णित रंग से भिन्न है। इस रंग की खोज करने में बेचारे टीकाकारों को बहुत परेशान होना पड़ा है।[1] पर यह केशव की प्रवृत्ति का परिणाम था, इतना ही मान लेने से काम चल सकता है।[2] चंद्रमा का पुत्र होना ही बुध के शुक्लत्व के लिए पर्याप्त है।

सनि-कज्जल चख-झख-लगन, उपज्यौ, सुदिनु सनेहु।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेसु सबु देहु ॥—५।

शनि का काला होना ही न उसके कज्जल के उपमानत्व का कारण है? केवल फलित ज्योतिष का विशेष फल घटाने के ही लिए न यह नेत्रों का मीनत्व दोहरा काम कर रहा है या और कुछ? इस प्रकार के रूप-विधान से सांग रूपक वाला यह दोहा या ऐसे ही और दोहे कहीं अच्छे हैं जिनमें रूप-साम्य भी है और प्रभाव-साम्य भी थोड़ा-बहुत—

खौरि-पनिच, भृकुटी-धनुषु, बधिकु समरु, तजि कानि।
हनँतु तरुन-मृग तिलक-सर सुरक-भाल, भरि तानि ॥—१०४।

ऊपर सादृश्य, साधर्म्य और अप्रस्तुत-रूप-विधान के संबंध में जो मानदंड रखा गया है वह, संभव है, चमत्कार पर लोट-पोट होनेवालों को न रुचे, क्योंकि बिहारी के ऐसे दोहों की प्रशंसा में उन्होंने आकाश-पाताल एक करने का उद्योग किया है, पर काव्य की सच्ची दृष्टि के अनुसार बिहारी जहाँ चूकते हैं उसका उल्लेख भी आवश्यक ही माना जायगा।

यहाँ तक एक प्रकार से गोचर प्रस्तुत के लिए लाए गए गोचर अप्रस्तुतों पर कुछ विचार किया गया। कभी-कभी कवि लोग अगोचर भाव या अमूर्त व्यापार के लिए गोचर प्रस्तुत लाया करते हैं अथवा केवल प्रभाव पर दृष्टि रखकर गोचर प्रस्तुत के लिए अगोचर अप्रस्तुत भी रख दिया

---

१. तारोदराद्विनिष्क्रान्तः कुमारश्चन्द्रसन्निभः।
सर्वार्थशास्त्रविद्धीमान् हस्तिशास्त्रप्रवर्त्तकः ॥—मत्स्यपुराण, २४-२।

२. किधौं गोद चंद जू के खेलै सुत चंद को।—केशव।

करते हैं। दूसरे प्रकार का अप्रस्तुत-विधान आधुनिक काल की कविता में अधिक मात्रा में देखा जाता है।

दो व्यक्ति यदि प्रेमपूर्वक एक दूसरों को देख रहे हों तो उनकी दृष्टि के संयोग से दोनों के मन किस प्रकार एक के पास से दूसरे के पास पहुँचा करते हैं इसे स्पष्ट करने के लिए बिहारी नटों की उपमा सामने लाते हैं—

डीठि-बरत बाँधी अटनु, चढ़ि धावत न डरात।
इतहिं उतहिं चित दुहुन के, नट लौं आवत जात ॥—१६३।

बिहारी ने उपमान-पक्ष के लिए परंपरा से प्रसिद्ध एवं प्रचलित उपमानों के अतिरिक्त सामान्य जगत् से भी उपमानों का विधान करने का प्रयत्न किया है। इनके उपमानोंका विधान कहीं-कहीं पुराणों की कथाओं के आधार पर भी देखा जाता है। जहाँ इन्हें किसी बात को थोड़ा साफ करने की आवश्यकता पड़ी है वहीं इन्होंने ऐसा किया है। विरोधमूलक अलंकारों का भी बिहारी ने अधिक और अच्छा प्रयोग किया है। सब प्रकार के विरोध-मूलक अलंकार विरोध, विभावना, असंगति, विशेषोक्ति, विषम आदि बिहारी में मिलते हैं। अन्योक्ति के उदाहरण भी साफ मिलते हैं। जैसे—

स्वारथु, सुकृतु न, श्रम बृथा, देखि, बिहंग बिचारि।
बाज, पराऐं पानि परि तूँ, पच्छीनु न मारि ॥—२००।

कुछ लोग इसे उस अवसर का दोहा बतलाते हैं जब मिर्जा राजा जयशाह शाहजहाँ की ओर से हिंदुओं के विरुद्ध युद्ध कर रहे थे। इन्हीं जयशाह को शिवाजी ने भी कड़ी फटकार लिखी थी।

इन सब बातों का उल्लेख करने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि बिहारी अलंकार-शास्त्र में प्रवीण थे, उन्होंने अपने बहुत-से दोहों में अलंकारों को इतना स्पष्ट दिखलाया है कि अलंकार के लक्षण-ग्रंथ लिखने-वालों के उदाहरण भी उतने साफ नहीं मिलते। इतनी बड़ी निपुणता उस शास्त्र के अनुशीलन, अभ्यास और सामर्थ्य की बात है। अलंकारों की यह सफाई भी बिहारी को रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों की ओर ही खींचनेवाली है। बिहारी के दोहों को लेकर छोटा-सा अलंकार का

ग्रंथ भी इन्हीं के उदाहरण देकर बनाया जा सकता है। बिहारी के प्रायः सभी टीकाकारों ने अलंकार पर भी विशेष जोर रखा है। पर बिहारी के दोहे केवल अलंकार के उदाहरणों के रूप में नहीं बने हैं। उन्होंने अलंकार की काव्योपयोगिता पर बराबर दृष्टि रखी है और अलंकारों की योजना एवं अप्रस्तुतों का विधान बहुत कुछ काव्य के भाव और वस्तु के रूप, गुण आदि की अनुभूति कराने के लिए ही किया है। इसलिए यह बेधड़क कहा जा सकता है कि कुछ चुने हुए स्थलों को छोड़कर बिहारी का कविकर्म इस दृष्टि से श्लाघ्य है। बिहारी ने चमत्कार को ही काव्य का उद्देश्य समझनेवालों के लिए भी कुछ दोहे लिख दिए हैं और जो लोग भाव में मग्न होनेवाले हैं उनको दृष्टि में रखकर भी रचना की है। बिहारी ने जैसी प्रतिभा दिखलाई वैसी हिंदी के अन्य कवियों में, विशेषकर मुक्तक लिखनेवालों में, एकदम या बहुत कम पाई जाती है इसलिए अन्य मुक्तककारों से बिहारी इस विचार से भी अलग दिखाई पड़ते हैं।

रूप-चित्रण और अनुभाव-विधान

किसी भाव की व्यंजना में उस भाव के आलंबन का चित्रण भी आता है और भाव के आश्रय की चेष्टाएँ भी। पहले को काव्य-शास्त्र में विभाव-पक्ष का निरूपण कहा जायगा और दूसरे को अनुभाव-विधान। विभाव-पक्ष के निरूपण में आलंबन को चेष्टाएँ भी आएँगी और उसके कार्य-व्यापार भी। ये सब भाव-प्रेरित भी हो सकते हैं और स्वभाव-सिद्ध भी। आलंबन की चेष्टाएँ जब आश्रय के हृदय में भाव को बढ़ाने और उसको उद्दीप्त करने में सहायक होंगी तब उन्हें शास्त्रीय शब्द में 'उद्दीपन' कहेंगे। बिहारी ने इस प्रकार की चेष्टाओं का बहुत ही काव्योपयोगी निरूपण किया है। बिहारी की कविता शृंगार-रस की कविता है इसलिए नायिका या नायक की चेष्टाएँ भी, जिन्हें हिंदीवाले 'हाव' कहते हैं, इनमें पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। बिहारी का जिस प्रकार 'हाव-विधान' सच्चा है उसी प्रकार अनुभाव-विधान भी। कुछ मुद्राओं का उन्होंने ऐसा वर्णन भी किया है जो 'हाव' के अंतर्गत नहीं आतीं। भाव-प्रेरित न होने से उन्हें अनुभावों के भीतर भी नहीं रख सकते। इसलिए वे सब मुद्राएँ केवल शुद्ध रूप-चित्रण की दृष्टि से वर्णित मानी जायँगी। तात्पर्य यह है कि बिहारी ने चेष्टाओं, हावों, अनुभावों, मुद्राओं और कार्य-व्यापारों का अच्छा वर्णन किया है। इनका वर्णन करने के लिए कवि में निरीक्षण की शक्ति अत्यधिक मात्रा में अपेक्षित होती है। कहना नहीं होगा कि बिहारी में अवेक्षण की यह शक्ति बहुत ही अधिक मात्रा में मिलती हैं यों तो लक्षण-ग्रंथों में प्राचीन काव्यों के आधार पर और अपनी अनुभूति के द्वारा भी आचार्यों ने सभी भावों के साथ-साथ उनके अनुभावों का भी उल्लेख कर दिया है। इसलिए जिसे भावों की कामचलाऊ व्यंजना करनी हो उसके लिए उनसे भी सहायता मिल सकती है। पर जो कवि सहृदय होते हैं वे शास्त्रों को ही आधार बनाकर नहीं चला करते, अपनी स्वतंत्र अनुभूति के बल पर कितने ही अनुभावों और चेष्टाओं का, जो उन ग्रंथों में उल्लिखित नहीं हैं, विधान कर जाया करते हैं। बिहारी ने

चेष्टाओं और अनुभावों का विधान करने में शास्त्र-ग्रंथों का सहारा न लेकर अपनी स्वतंत्र अवेक्षण-शक्ति से काम लिया है, इसलिए उनका यह विधान बहुत ही स्वाभाविक और हृदयग्राही हुआ है। हिंदी के अन्य कवियों से बिहारी इसलिए भी अलग दिखाई पड़ते हैं।

किसी भाव की व्यंजना करने के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि उस भाव का नाम लेकर उसकी मात्रा की अनुभूति कुछ विशेषण शब्द लगाकर करा दी जाय। जैसे यदि यह कहा जाय कि 'उन्हें बहुत लज्जा आ गई' तो लज्जा की किसी प्रकार की व्यंजना न होगी। इस भाव की व्यंजना के लिए आवश्यक यह होगा कि इसके अनुभावों का वर्णन किया जाय। अनुभावों का विधान कर देने से उस भाव का नाम लेने की भी आवश्यकता नहीं। जैसे लज्जा के संबंध में यह कहा जायगा कि उनका सिर नीचा हो गया, वे जमीन में गड़ गए आदि। वस्तुतः भाव व्यंग्य होते हैं अर्थात् उनकी व्यंजना दूसरों के द्वारा होती है, इसीलिए भावों की व्यंजना करते समय उनका नाम लेना एक प्रकार का दोष माना गया है जिसे आचार्य 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष कहते हैं। यही कारण है कि रससिद्ध कवि भावों का नाम न लेकर अनुभावों के विधान के द्वारा उन भावों को व्यक्त किया करते हैं। बिहारी ने भावों या रस की व्यंजना में इस बात का बराबर ध्यान रखा है और उन्हीं के अनुकूल चेष्टाओं और अनुभावों का ठीक विधान किया है, यही बात बतलाती है कि बिहारी में कविप्रतिभा और काव्यानुभूति कैसी थी।

यहीं पर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि शुद्ध काव्य में और विशेषतया मुक्तकों में बिना चित्रण और अनुभावों की योजना के काम नहीं चल सकता। दृश्य काव्य या रूपकों में यह कार्य नट करता है, इसलिए वहाँ कवि के लिए उन्हें लिख देने की उतनी आवश्यकता नहीं होती, वहाँ भावों को व्यक्त करने के लिए संवाद पर अधिक दृष्टि रखनी पड़ती है, अभिनेता भावों के अनुरूप अपनी चेष्टाएँ स्वतः बना लेता है। पर शुद्ध काव्य में यह कार्य कवि के सिर विशेष रूप से पड़ता है। उसे भावों के अनुकूल इनकी योजना अवश्य करनी पड़ती है। पर विस्तृत

प्रबंध के भीतर अनेक स्थल भावों की व्यंजना के लिए आया करते हैं, इसलिये कुछ स्थल उसमें ऐसे भी आ सकते हैं जहाँ अनुभावों या चेष्टाओं की सम्यक् योजना न हो, पर मुक्तकों के लिए यह बात नहीं हो सकती। जब एक ही छंद को अपनी शक्ति द्वारा भाव की व्यंजना भी करनी है और विभाव-पक्ष का निरूपण भी करना है तो मुक्तकों में यदि अनुभावों या चेष्टाओं की सम्यक् योजना न रहेगी तो वे किसी काम के न होंगे। थोड़ी देर के लिए जो आनंद वे रसिकों के हृदय में उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, वैसा न कर सकेंगे। इसलिये मुक्तककार के लिए इनका विधान सबकी अपेक्षा अधिक आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। किसी भाव के लिए बहुत-से अनुभाव हो सकते हैं। प्रबंध के भीतर अवसर के उपयुक्त उनमें से बहुतों का विधान किया जा सकता है, पर मुक्तक-रचना में इतनी अधिक जगह नहीं होती कि कवि उन सभी अनुभावों अथवा अवसर के अनुकूल अधिक से अधिक अनुभावों की योजना कर सके। मुक्तकों में बड़े छंदों में तो इसके लिए कुछ गुंजाइश हो भी जाती है, पर दोहे ऐसे छोटे छंद में तो सबकी क्या दो-चार की भी गुंजाइश नहीं होती। इसलिए आवश्यक यह होता है कि कवि किसी भाव के अनुभावों में से कोई ऐसा अनुभाव चुने जो उस भाव की व्यंजना के लिए सबसे प्रबल हो अथवा जो अनुभावों के बीच प्रधान या मूल हो तथा अन्य उसके गौण या सहायक हों। जैसे यदि किसी के क्रोध की व्यंजना करनी है तो कितने ही प्रकार के अनुभाव आ सकते हैं—आँखों का लाल हो जाना, भौंहों का चढ़ जाना, ओठ का चबाना या फड़कने लगना, पैर पटकना आदि। इन अनुभावों में से यदि केवल भौंहों का चढ़ जाना ही कह दिया जाय तो भी क्रोध की व्यंजना हो जायगी; क्योंकि क्रोध का यह अनुभाव मुख्य है, क्रोध होते ही त्योरियाँ चढ़ जाती हैं, वह क्रोध चाहे किसी प्रकार का हो। बिहारी ने प्रायः एक ही अनुभाव के द्वारा भाव-व्यंजना बहुत कम कराई है, उन्होंने या तो कई भावों को लेकर अलग अलग भाव के लिए एक एक अनुभाव रखा है अथवा यदि [illegible] में एक

ही भाव की व्यंजना करनी थी तो कई अनुभाव रखे हैं। कारण यही है कि बिहारी के दोहों में से प्रत्येक का एक स्वतंत्र लक्ष्य होता है, उसी की पूर्ति के लिए वे अपना सारा प्रयत्न लगाते हैं। ऐसा नहीं कि कई बातों को जुटाने के लिए उन्होंने किसी दोहे में बहुत-सी बातें घुसेड़ दी हों। मुक्तकों में जो एक स्वतंत्र लक्ष्य होना चाहिए और जिसकी पूर्ति में ही कवि की सब पदावली लगनी चाहिए उसकी ओर अन्य मुक्तककारों ने कम ध्यान दिया है। इसलिए बिहारी इस बात में भी उन सबसे अलग दिखाई पड़ते हैं।

यहीं पर एक बात पर और विचार करने की आवश्यकता है। रीतिग्रंथों में 'हाव' अनुभावों के अंतर्गत माने गए हैं, पर विचार करने से वे अनुभाव के अंतर्गत नहीं आते। अनुभाव किसी भाव से प्रेरित होता है। अनुभाव शब्द का जो अर्थ लोग लगाते हैं उनमें से एक अर्थ तो यह है कि भाव के बाद उत्पन्न होनेवाली चेष्टाएँ अनुभाव हैं। दूसरा अर्थ यह लगाया जाता है कि जिन चेष्टाओं को देखकर किसी भाव का अनुभव हो अर्थात् लोगों को यह ज्ञात हो जाय कि अमुक के हृदय में अमुक भाव उद्बुद्ध हो रहा है, वे ही चेष्टाएँ अनुभाव हैं। अनुभाव शब्द के अर्थ करने में चाहे जो पद्धति ग्रहण की जाय, हमारे ऊपर के कथन में कोई त्रुटि नहीं आती। अनुभाव सदा भाव-प्रेरित होते हैं। पर जिन्हें हिंदीवाले 'हाव' कहते हैं वे चेष्टाएँ भाव-प्रेरित न होकर स्वाभाविक होती हैं। उनके संबंध में भाव-प्रेरित न होने की बात कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उनका प्रकृत स्वरूप ही ऐसा है, इसीलिए संस्कृतवालों ने उन्हें अलंकार कहा है। किसी नायिका की शोभा जिस प्रकार अलंकारों से होती है उसी प्रकार इन 'हावों' से भी। यहीं पर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हिंदी में हाव शब्द का प्रयोग संस्कृत की अपेक्षा भ्रामक अथवा व्यापक अर्थ में होने लगा है। इसको थोड़ा साफ करने के विचार से नायिकाओं के अलंकारों का कुछ वर्णन नीचे किया जाता है।

चित्त की निर्विकार अवस्था का नाम सत्त्व है। इसी सत्त्व में या जन्म से निर्विकार चित्त में जो सबसे पहला विकार होता है उसे ही भाव

कहते हैं।[1] जैसे किसी की युवावस्था का आगमन देखकर लोग प्रायः कहते देखे जाते हैं कि अब तो उनका रंग कुछ और ही है। इस अवस्था में भी चेष्टाएँ होती हैं। पर इसमें किसी इच्छा या अभिलाषा का प्रकाशन नहीं होता, इसलिए केवल भाव उठ खड़ा होता है। इसीसे भाव का उठना मात्र ही कहा गया है। इच्छा या अभिलाषा का प्रकाश करने से वही भाव अल्प रूप में लक्षित होता है और भौंह नेत्र आदि में विकार हो जाते हैं। भाव का यह अल्प प्रकाश ही हाव कहा जाता है। भाव के उठने पर मन की अवस्था बदल जाती है, जैसे युवावस्था के आगमन के समय जो रति भाव उत्पन्न होने लगता है उसके फल-स्वरूप एक प्रकार की मस्ती का छा जाना, बिना किसी प्रयोजन के अनजाने किसी विशेष स्त्री या पुरुष से बातचीत करने में आनंद आने लगना आदि। भाव की यह अवस्था जब अभिलाषा के साथ प्रकट होती है तो 'हाव' कहलाती है। इसके अनंतर जब भाव स्फुट रूप में प्रकट होने लगता है तो उसे हेला कहते हैं। ये तीनों अर्थात् भाव, हाव और हेला अंगज अलंकार माने जाते हैं। इनका क्रम ऊपर के कथन के अनुसार इस प्रकार हुआ—सत्त्व से भाव, भाव से हाव और हाव से हेला।[2]

केवल अंगज ही अलंकार नहीं माने गए हैं, वे अयत्नज और स्वभावज भी होते हैं। अयत्नज अलंकार वे हैं जो किसी कृति से साध्य नहीं होते। जैसे शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। कोई चाहे कि शोभा उत्पन्न कर ले या कांति उसमें आ जाय तो यह संभव नहीं है। इसीसे ये अलंकार यत्न के द्वारा साध्य नहीं माने जाते, अतः अयत्नज हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अलंकार यत्न या कृति से साध्य होते हैं, जैसे किसी का यौवनारंभ में अकारण हँसना, इसी प्रकार

१. निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया—साहित्य-दर्पण।

२. भावो हावश्च हेला च परस्परसमुत्थिताः।
सत्त्वभेदा भवन्त्येते शरीरप्रकृतिस्थिताः॥
देहात्मकं भवेत् सत्त्वं सत्त्वात् भावः समुत्थितः।
भावात् समुत्थितो हावो हावाद्धेला समुत्थिता॥—नाट्यशास्त्र, २४–६, ७।

बिना कारण ही प्रिय के सामने डरना या घबराना आदि। ये अलंकार होते तो यत्न या कृति से ही साध्य हैं, अर्थात् प्रयत्न करने पर ही इनका उदय होता है, फिर भी ये स्वाभाविक होते हैं। युवावस्था में हँसना, इस प्रकार चकित होना स्वाभाविक है, इसीसे ये अलंकार स्वभावज माने गए हैं। स्वभावज अलंकार अठारह होते हैं जिनके नाम ये हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्बोक, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इन्हीं स्वभावज अलंकारों में लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्बोक, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, विहृत इन दस स्वभावज अलंकारों को हिंदीवालों ने हाव नाम दिया है, किसी-किसी ने हेला को भी हाव के अंतर्गत मानकर हावों की संख्या ११ मानी है। इन हावों में से अंगज और अयत्नज अलंकार तो नायकों में भी माने गए हैं, पर स्वाभाविक अलंकारों की विशेष शोभा नायिकाओं में ही मानी जाती है।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि इन चेष्टाओं को अनुभाव के अंतर्गत माना जाय या उद्दीपन के अंतर्गत। आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव के अंतर्गत आती हैं और आलंबन की चेष्टाएँ उद्दीपन के अंतर्गत। शास्त्रग्रंथों में इन हावों को या अलंकार के भीतर आनेवाली इन चेष्टाओं को अनुभावों के ही अंतर्गत माना गया है। बात यह है कि आश्रय या विषयी तथा आलंबन या विषय का भेद नायक-नायिका के अंतर्गत ठीक उसी रूप में नहीं समझा जाता जैसा अन्य रसों में होता है। शृंगार के भीतर नायक और नायिका एक दूसरे के परस्पर आलंबन और आश्रय माने जाते हैं, इसीलिए इन चेष्टाओं की भी गणना अनुभावों के भीतर ही कर दी गई है। पर यदि इनपर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि ये वस्तुतः उद्दीपन के ही अंतर्गत आएँगे, अनुभाव के अंतर्गत नहीं। ऊपर इन चेष्टाओं का जो वर्णन किया गया है उस विवरण से स्पष्ट है कि ये चेष्टाएँ नायिकाओं के स्वाभाविक या सहज शोभाधायक गुणों के अंतर्गत आती हैं, वे किसी भाव की प्रेरणा से न होकर स्वतः

१. स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि—साहित्य-दर्पण।

होती हैं। इसलिए कविता में जहाँ कवि इनका वर्णन करेगा वहाँ ये सब केवल नायिका की शोभा के लिए ही आएँगी। जहाँ इनका वर्णन होगा वहाँ नायिका आलंबन होगी, नायक या तो उन चेष्टाओं का वर्णन करता हुआ माना जायगा या उन चेष्टाओं का स्मरण करता हुआ। इस दृष्टि से ये उद्दीपन के भीतर ही आ सकेंगी, अनुभाव के अंतर्गत नहीं। अनुभाव और उद्दीपन में विषयी और विषय के संबंध का ही भेद है। यदि ये ही चेष्टाएं नायिका में भाव की प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप दिखाई जायँगी, उनका शुद्ध रूप में वर्णन होगा तो वे अनुभाव हो जायँगी। स्थानभेद से ही वे अनुभाव भी हो सकती हैं और उद्दीपन भी। इनके कुछ उदाहरण देकर बात को स्पष्ट कर देना चाहिए—

कर समेटि कच भुज उलटि, खएँ सीस-पट्ट डारि।
काकौ मन बाँधै न यह जूरो-बाँधनहारि ॥—६८७।

यहाँ पर जिन चेष्टाओं या मुद्राओं का उल्लेख है वे किसी भाव से प्रेरित नहीं हैं। नायिका की इन चेष्टाओं को देखकर कोई उनके प्रभाव का कथन कर रहा है। इसलिए कथन करनेवाले के लिए ये चेष्टाएँ या मुद्राएँ केवल उद्दीपन के रूप में हैं। नायिका में किसी भाव की स्थापना नहीं है, उसका कोई संकेत भी नहीं है। कहने के ढंग से कहनेवाला नायक नहीं जान पड़ता। वह या तो कोई दूसरा व्यक्ति है अथवा यदि नायक भी है तो अभी वह नायिका के ऊपर मुग्ध हो रहा है, उन दोनों का प्रेम पहले से नहीं है। यह नायिका की मुद्राओं का सहज वर्णन है। इसे हाव के भीतर भी नहीं ले जा सकते। जिस प्रकार का वर्णन यहाँ पर किया गया है उसके अनुसार यह 'विलास हाव' से मिलता है। पर विलास हाव में नायिका की ओर से आकर्षण का संकेत होना चाहिए।[1] नायिका की ओर से नायक के आकर्षण का प्रयत्न इसमें एकदम नहीं है इसलिए इसे 'विलास हाव' नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग इस दोहे के चौथे चरण का पाठ कुछ भिन्न रूप में ग्रहण करते हैं। वे 'बाँधनिहारि' को दो टुकड़ों में विभक्त करके 'बाँधि निहारि' कर देते हैं। यदि यही

१. रस-कुसुमाकर, पृष्ठ ४४।

पाठ मूल पाठ माना जाय तो यह 'विलास हाव' का खासा उदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'निहारि' शब्द के द्वारा नायिका के प्रयत्न का संकेत मिल जायगा। दूसरा उदाहरण लीजिए—

त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि॥—८८।

यहाँ कोई सखी नायिका की चेष्टाओं का वर्णन किसी दूसरी सखी से कर रही है। 'भली बिधि चाहि' कहने से नायिका के प्रयत्न का संकेत स्पष्ट मिल जाता है, इसलिए यह 'विलास भाव' का ठीक उदाहरण है। हाव का और उदाहरण लीजिए—

रहौ, गुही बेनी लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुखाए बार॥—४८०।

नायक नायिका की चोटी गुह रहा था। पर उसके केशों के स्पर्श से नायक को सात्त्विक भाव हो गया और उसके हाथों में पसीना होने लगा। हाथ के पसीने से केश गीले हो गए। इसी को लेकर नायिका नायक का किंचित् गर्वपूर्ण अनादर करती है या अनादर करने का नाट्य करती है। इसलिए यहाँ पर शास्त्राभ्यासियों के अनुसार बिब्बोक हाव होगा।[1] इसमें चेष्टाओं का उल्लेख तो नहीं है, पर नायिका की शब्दावली इस ढंग की रखी गई है कि उसकी मुद्रा शब्दों से ही लक्षित हो जाती है। बिहारी के विभिन्न हावों को दिखाने के लिए ही यहाँ पर यह दोहा रखा गया है। इसी प्रकार विच्छित्ति भाव का यह उदाहरण देखिए—

बेंदी भाल, तँबोल मुँह, सीस सिलसिले बार।
दृग आँजे, राजै खरी एई सहज सिंगार॥—६७६।

यहाँ नायिका के शृंगार का ही वर्णन है। सभी हावों या चेष्टाओं के उल्लेख की आवश्यकता नहीं होती, कहीं नायिका की शब्दावली और कहीं उसके शृंगार से ही मुद्रा सामने आ जाती है। कहीं कहीं बिहारी ने द्वाश्रय चेष्टाओं का भी वर्णन कर दिया है जो हाव के भीतर ही आता है। जैसे यह दोहा—

---

१. बिब्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः—साहित्य-दर्पण।

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं नैनन हीं सब बात॥—३२।

यहाँ पर 'कहत नटत' आदि नायिका और नायक दोनों की ओर लगते हैं। इसमें अभिलाष, गर्व, हर्ष, अमर्ष, स्मित आदि कई भाव एक साथ प्रकट हो रहे हैं, इसलिए हावों में से यहाँ किलकिंचित् हाव होगा। पर दोनों पक्षों में लगने से किसी को एतराज हो तो उसे जानना चाहिए कि चेष्टाएँ या हाव हो तो सकते हैं दोनों में, पर वे अच्छे या अधिक शोभाधायक नायिका में ही माने गए हैं। यह इसके दोनों पक्षों में लगने से शोभा में कमी नहीं है, बल्कि शोभा में वृद्धि हो गई है, इसलिए किलकिंचित् हाव स्पष्ट है। पर कहीं कहीं 'कहति, नटति' आदि पाठ भी मिलता है, ऐसी स्थिति में ये क्रियाएँ केवल नायिका में ही घटित होंगी और यह दोहा इसका ठीक ठीक उदाहरण हो जायगा। और उदाहरण लीजिए—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ॥—४७२

यहाँ भी हाव के विचार से किलकिंचित् हाव ही कहा जायगा। 'बतरस लालच' आदि के बल पर नायक के आकर्षण को ही मुख्य मानें तो विलास हाव भी कह सकते हैं।

अन्य हावों के उदाहरणों की आवश्यकता नहीं, बिहारी में सभी हावों के उदाहरण मिल जाते हैं। पर अधिक वर्णन उन्होंने विलास हाव का ही किया है, उसी के दो चार अच्छे-अच्छे उदाहरण यहाँ अवलोकन करने के लिए उद्धृत कर दिए जाते हैं—

नासा मोरि, नचाइ जे करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकैति हिय गड़ी कँटीली भौंह॥—४०६।
भौंह उँचै, आँचरु उलटि, मौरि मोरि, मुहु मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौं जोरि॥—२४२।
कंज-नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार।
कच-अँगुरी-बिच दीठि दै, चितवति नंदकुमार॥—७८।

देख्यौ अनदेख्यौ कियैं, अँगु अँगु सबै दिखाइ।
पैठति सी तन मैं सकुचि, बैठी चितै लजाइ॥—६१८।

चितई ललचौहैं चखनु, डटि घूँघट-पट माँह।
छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छाँह॥—१२

अब अनुभावों के कुछ उदाहरण देखिए। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रवीण कवि केवल लक्षण-ग्रंथों में गिनाए हुए अनुभावों का ही उल्लेख करके अपने कार्य की इतिश्री नहीं कर लेते। वे अपनी स्वतंत्र अनुभूति से नये-नये विधान कर लिया करते हैं। वे शास्त्र में कथित अनुभावों का वर्णन न करके भी ऐसी-ऐसी योजना कर देते हैं जिससे भाव को हृदयंगम करने में सहायता मिलती है और सामने उसका चित्र-सा खड़ा हो जाता है। देखिए—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकुट, बनमाल॥—१५४

व्याकुलता की व्यंजना के लिए यहाँ पर अस्तव्यस्तता का वर्णन—मुरली के इधर और पीतपट के उधर गिरने से, मुकुट और वनमाला के छटक कर अलग जा पड़ने से—कवि ने अपनी स्वतंत्र अनुभूति द्वारा किया है। अस्तव्यस्तता की अवस्था में मनुष्य को अपने को और अपनी वस्तुओं को सँभालने की न चिंता रहती है और न वह सँभाल ही सकता है। बिहारी ने यही इस दोहे में दिखाया है। यह दोहा देखने में सामान्य जान पड़ता है, पर बिहारी ने उस अवस्था की अनुभूति करने में अनुभावों की योजना बड़े अच्छे ढंग से की है, श्रीकृष्ण का ठीक स्वरूप सामने आ जाता है। दूसरा उदाहरण लीजिए—

उन हरकी हँसि कै इतै इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिलैं मन मिलि गए, दोऊ मिलवत गाइ॥—१२८।

अनुभावों की योजना भाव-निरूपण और भाव की अवस्था का चित्र व्यक्त करने में सहायक होती है। बिहारी के दोहों में यह बात बराबर मिलती है। कृष्ण ने राधिका की गायों को झुंड में मिलाने से रोका और राधिका ने हँसकर उन्हें मिला दिया। दोनों पक्ष के प्रेमभाव को

व्यक्त करने के लिए ये अनुभाव—जो केवल चेष्टाएँ ही नहीं हैं, कार्य-व्यापार से भी संबंध रखते हैं— कैसे अच्छे बन पड़े हैं। दोनों की मुद्राएँ साफ दिखाई पड़ने लगती हैं।

बिहारी ने अनुभावों की योजना के द्वारा रस की भी भरपूर व्यंजना की है और भाव की भी। नीचे के दोहे में मोह की कैसी साफ व्यंजना है—

> रही दहेंड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि।
> फेरति करि उलटी रई, नई बिलोवनिहारि ॥—२४५।

यहाँ शास्त्र की कड़ाई को ध्यान में न रखकर लोगों ने विभ्रम हाव भी माना है। विभ्रम में आभूषणों के विपर्यय का ही उल्लेख होता है, पर यहाँ मथानी उलट गई है। विचार करने से यहाँ नायिका में जो अनुभाव उपस्थित हैं वे भावप्रेरित हैं, इसलिए यह 'विभ्रम' वस्तुतः अनुभाव ही है, हाव नहीं।

बिहारी ने सामान्य जीवन को लेकर मिलन से उत्साह में अनुभावों के लिए कैसे कार्य-व्यापार रखे हैं, इसका भी एक उदाहरण देखिए—

> ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि त्यौं त्यौं खरी उताल।
> झमकि झमकि टहलैं करै लगी रहचटैं बाल ॥—५४३।

अब अनुभावों को छोड़कर थोड़ा-सा अप्रस्तुतों की चेष्टा या व्यापार के निरूपण पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। बिहारी ने केवल प्रस्तुत नायिका की ही मुद्राओं का चित्रण नहीं किया है, नायिका आदि के लिए अप्रस्तुत रूप में लाए गए जीवों एवं पदार्थों के व्यापारों का भी अच्छा चित्रण किया है; अप्रस्तुत के उन उन व्यापारों को लेकर नायिका के स्वरूप का चित्र खड़ा करने में भी अच्छा कौशल दिखाया है। उदाहरण लीजिए—

> चिलक, चिकनई, चटक सौं लफति सटक लौं आइ।
> नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ ॥—१९६।

इस दोहे में नागिन उपमान के रूप में आई है। उसकी मुद्राओं का निरूपण 'चिलक चिकनई' आदि के द्वारा बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। नागिन की चमक एवं सचिक्कणता के साथ-साथ उसका चटकना

और लफना भी है। इसी प्रकार 'चकरी' के व्यापार का कैसा सच्चा विधान है, देखिए —

इत तैं उत उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई फिरि आवति फिरि जाति ॥—२०६।

रूप-वर्णन करने में भी बिहारी ने अच्छी सफलता पाई है। इनका वर्णन या तो उद्दीपन के रूप में है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, या केवल शृंगार का ही वर्णन करके काम चलाया गया है। जैसे बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा ही ले लीजिए—

सीस-मुकुट कटि-काछनी कर-मुरली उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा बसौ, बिहारी लाल ॥—३०१।

उद्दीपन के रूप में—

लटकि लटकि लटकतु चलतु डटतु मुकुट की छाँह।
चटक-भर्‌यौ नट मिलि गयौ अटक भटक-बट माँह ॥—१६२।

अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं, बिहारी की कविता में जैसा सच्चा विधान हावों एवं अनुभावों का दिखाई पड़ता है वैसा हिंदी के कम कवियों में मिलता है। रूप-वर्णन में भी बिहारी ने अच्छा चित्र खींचा है। अनुभावों और चेष्टाओं की योजना की यह विभूति आगे चलकर हिंदी के दो रससिद्ध कवियों में और देख पड़ी—एक हैं पद्माकर और दूसरे हैं स्वर्गीय रत्नाकर। इस विचार से बिहारी हिंदी के अन्य कवियों से अपनी एक अलग विशेषता रखते हैं। बिहारी की कविता की सबसे बड़ी विशेषता इन्हीं के विधान में दिखाई पड़ती है।

प्रेम का संयोग-पक्ष

प्रेम का क्षेत्र बहुत विस्तृत माना गया है। इसीलिए प्रेम के परिपाक से जो शृंगार रस होता है उसे 'रसराज' कहते हैं। शृंगार का रसराजत्व इसीलिए है कि उसका क्षेत्र बहुत दूर तक है, उसकी सीमा के भीतर हृदय की अनेक भावनाएँ आ जाती हैं। इसका कारण यही है कि उसके दो पक्ष हैं—एक सुखात्मक पक्ष जिसे संभोग शृंगार कहते हैं और दूसरे दुःखात्मक पक्ष जिसे विप्रलंभ कहते हैं। शृंगार के दो पक्ष हो जाने के कारण ही उसमें मनुष्य के हृदय की अधिक से अधिक वृत्तियाँ आ जाती हैं। अन्य किसी भी रस के दो पक्ष नहीं होते। इसके अतिरिक्त प्रेम के स्वरूप भी बहुत होते हैं और अनेक संबंधों में पहुँचकर यह अनेक रूप भी धारण करता है। पति और पत्नी के बीच यह रति के रूप में प्रकट होता है तो माता या गुरुजन एवं पुत्र या बालक के बीच वात्सल्य के रूप में। सम्मान करने योग्य पुरुषों के प्रति यह श्रद्धा के रूप में आता है और देवताओं के प्रति भक्ति के रूप में प्रकट होता है। मित्रों के बीच स्नेह के रूप में और दीनों या सेवकों के प्रति उदारतादि के रूप में प्रकट होता है। यहीं तक नहीं, यह अपने आश्रय के हृदय का विस्तार भी कर देता है। प्रेम करनेवाले का हृदय बहुत उदार और सीमाबद्ध क्षेत्र से आगे बढ़ा हुआ होता है। वह केवल अपने कुटुंब से ही प्रेम नहीं करता, पशु-पक्षी भी उसके प्रेम के भाजन बन जाते हैं। जड़-जगत् या प्रकृति भी उसके प्रेम की वस्तु हो जाती है; सारा संसार प्रेम करने योग्य हो जाता है। प्रेम का जितना प्रसार दिखाई देता है, उतना और किसी भावना का नहीं। क्रोध, घृणा, उत्साह आदि वृत्तियों का इतना अधिक विस्तार नहीं है। प्रेम केवल मानव-जगत् की ही मनोवृत्ति नहीं है उसका प्रसार जीव-जगत और जड़-जगत् में भी पाया जाता है। पशु-पक्षी भी प्रेम करना जानते

हैं। विज्ञान ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि वृक्षलता आदि भी प्रेम करते हैं। प्रेम की यह विशालता और व्यापकता ही उसे रसराज कहलवाती है। प्रेम की भावना का ही यह परिणाम है कि प्रेमी के संपर्क में आनेवाली बड़ी से बड़ी, अच्छी से अच्छी वस्तुएँ ही नहीं, गंदी से गंदी और निकृष्ट से निकृष्ट वस्तुएँ भी प्रेम के प्रभाव से प्यार करने योग्य हो जाती हैं। यह विशेषता क्या और किसी भाव या रस में है? प्रेमी उस मार्ग की धूलि अपने सिर पर रखता है जिस मार्ग से प्रिय गया हो, वह उस सड़ी-गली और सूखी माला को सानंद स्वीकार करता है जो प्रिय ने भेजी है। वह प्रिय की खोज करने निकलता है तो वृक्ष, लता आदि से भी पूछता है कि प्रिय इधर से तो नहीं गया है। ऐसी भावना जो जड़ वृक्षों आदि से सौहार्द्र उत्पन्न कर देती है अवश्य सब भावनाओं से बड़ी और पवित्र कही जायगी।

पर इतना होने पर भी बहुत से लोगों ने केवल नई खोज के रूप में अन्य रसों एवं भावनाओं को रसराज, प्रधान या मूल मानने का हौसला किया है। भवभूति ने 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' कह कर करुण के सिर यह सेहरा बाँधा। कविराज विश्वनाथ के पितामह श्रीनारायण कृती ने अद्भुत् को ही प्रधान रस या मूल रस माना। भवभूति ने कहा है कि एक ही धारा या जल कहीं तरंग का रूप धारण करता है, कहीं बुलबुले का रूप धारण करता है और कहीं भँवर का रूप। ठीक उसी प्रकार करुण रस भी शृंगार आदि भावनाओं के रूप धारण कर लेता है। श्रीनारायण जी ने कहना आरंभ किया कि सभी रसों में चमत्कार होता है इसलिए क्यों न सभी में अद्भुत रस को ही प्रधान माना जाय और इसी को मूल रस समझा जाय। संस्कृत में तो नहीं पर हिंदी में अन्य रसों का रसराजत्व सिद्ध करनेवाले भी दिखाई पड़े। मनोवेगों में जो तीव्रता होती है अथवा किसी भाव में मग्न होनेवालों में जो दृढ़ता दिखाई देती है वह साहस और उत्साह के ही कारण। यदि उनमें साहस न हो, उत्साह का अभाव हो तो वे किसी प्रकार की दृढ़ता धारण नहीं कर सकते। इसी उत्साह या साहस अथवा दृढ़ता

को पकड़कर कुछ हिम्मती लोगों ने वीर रस का विस्तार बहुत दूर तक देखा। देशप्रेम तक तो कोई बात नहीं थी, पर जब विरह को कठोरता झेलने के कारण गोपियाँ भी वीर रस का आलंबन बनने लगीं तो वीर रस की प्रधानता, विशालता और रसराजता में संदेह ही किसे रह सकता है ? बहुत शीघ्र हो कोई बीभत्स को रसराज या मूल रस कहने की घोषणा न कर दे, इसी आशंका से हृदय दहल उठता है। फिर क्या है कोई भयानक को रसराज कहेगा और कोई रौद्र को। कोई भी रस रसराज कहे जाने से अछूता न रह जायगा।

इस प्रकार के हौसलों का कारण केशव आदि प्राचीन कवियों की वह पद्धति है जिस पद्धति से उन्होंने शृंगार को रसराज सिद्ध किया है। हम ऊपर कह चुके हैं कि शृंगार के दो पक्ष हो जाने के कारण उसके भीतर अधिक से अधिक भावनाओं का समावेश हो सकता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो भावनाएँ प्रेम के विरुद्ध हैं उन्हें भी उसके अंतर्गत दिखाया जाय। जैसे जुगुप्सा को ही ले लीजिए। यह भावना शृंगार की विरोधी भावना है उसके साथ नहीं रह सकती, विशेषतया संयोग पक्ष में। पर केशवदास जी ने संयोग में भी इस भावना या बीभत्स रस को दिखलाने का साहस किया है। उसके मेल में ही यह नहीं आ सकता, पर वहाँ यह शृंगार के भीतर दिखाया गया है। हम इसका उदाहरण पीछे दे आए हैं। इसी प्रकार और रस एवं भावनाएँ भी शृंगार के भीतर दिखा दी गई हैं, कोई भावना छूटने नहीं पाई है। बस, जब केशव ने यह रास्ता खोल दिया तो साहसी लोग और भी आगे बढ़ गए। उन्होंने केशव के ही अस्त्र से उनके शृंगार का रसराजत्व खंडित करते हुए अन्य रसों को रसराज बनाना आरंभ कर दिया। उन्होंने यह नहीं समझा कि जिस प्रकार केशव ने शृंगार को रसराज सिद्ध किया है उस प्रकार कोई भी कौतुकी किसी भी रस को रसराज सिद्ध कर सकता है, यह हमारी कोई नवीन खोज न होगी। अथवा यदि किसी ने सोचा भी होगा तो इसी को परम पुरुषार्थ मान लिया होगा। खैर, इस विस्तार की अधिक आवश्यकता नहीं, तात्पर्य

केवल इतना ही है कि श्रृंगार का विस्तार दूर तक है और उसी में हृदय की विशालता का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण मिलता है, इसलिए उसकी रसराज संज्ञा बहुत ठीक है।

अब श्रृंगार के लौकिक एवं एकांत दो पक्षों पर थोड़ा विचार करके तब बिहारी की रचना पर आना चाहिए। प्रिय और प्रेमी की वृत्तियाँ सारे संसार से सिमट कर अपने में ही बद्ध रहती हैं। इसलिए प्रेम की तीव्रता लोक से उदासीन हो जाती है और प्रेम का एकांत स्वरूप सामने खड़ा होता है। इस प्रकार प्रेम में एकांतता भी दिखाई पड़ती है और वह लौकिक जीवन के साथ चलनेवाला भी दिखाई पड़ता है। भारतीय मनोवृत्ति लौकिक जीवन के मेल में चलनेवाले प्रेम की प्रशंसक रही है। जो प्रेम सारे संसार से अलग करके प्रेमी और प्रिय को एक कोठरी में बंद कर दे, उसके कारण प्रेमी आदर्श कहा जाय तो कहा जाय, पर प्रेम का वह स्वरूप कल्याणकर और विशाल नहीं हो सकता। पुराने संस्कृत-साहित्य में जो ग्रंथ मिलते हैं उनमें अधिकतर ऐसे ही मिलते हैं जो लौकिक प्रेम को प्रधानता देनेवाले हैं, पर आगे चलकर कवि लोगों में जो दरबारी प्रवृत्ति बढ़ी उसका परिणाम यह हुआ कि राजाओं के उसी प्रेम का विस्तार काव्यों में दिखाया जाने लगा जो संसार की ओर से आँख बंद करके केवल महल के भीतर ही आँख खोलनेवाला था। विदेशी लोगों के संपर्क में आने से उनके यहाँ के एकांत जीवनवाले प्रेम की पद्धति का प्रभाव भी इसपर पड़ा। श्रीकृष्ण के प्रेम का स्वरूप भी ऐसा ही सामने आया जो एकांत जीवन का ही वर्णन करनेवाला था। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेम का एक ही पक्ष अधिक प्रधान होने लगा। फिर भी हिंदी में जो प्रबंध-काव्य लिखे गए उनमें दोनों प्रकार के प्रेम दिखाई पड़ते हैं। पर मुक्तक-रचना में लौकिक प्रेम के लिए जगह नहीं रह जाती, इसलिए इस प्रकार की रचना में केवल ऐसे ही प्रेम का वर्णन मिलता है जो एकांत जीवन को लेकर चलता है, जो अंधड़-तूफान या बाढ़ के रूप में होता है, प्रशांत, गंभीर या स्थिर रूप में नहीं। सूरदासजी ने श्रीकृष्ण का जो प्रेम लिया उसमें उनके जीवन की घटनाओं का संयोग भी था,

और अधिक नहीं तो वृंदावन, बरसाना, मथुरा आदि का एक विस्तृत मैदान तो था ही। यमुना का कछार, वन, कुंज, खेत, कंदराएँ आदि भी थीं और गो-बछड़े भी थे; ग्वालबाल और गोपिकाएँ थीं। दूध, दही, मक्खन, मट्ठा आदि की कितनी ही बातें प्रेम के भीतर आनेवाली दिखाई पड़ती थीं। पर पीछे के कवि लोग केवल शास्त्र के कथन की विधि को पूरा करने के लिए श्रीकृष्ण और राधिका का नाम तो ले लेते थे, पर उनका वर्णन उतने विस्तार का नहीं होता था, वे बहुत बँधे क्षेत्र में कविता करते रहे। उनकी कविता के लिए एक ओर नायिकाभेद था और दूसरी ओर साधारण और पाखंडपूर्ण प्रेम। इसलिए इनकी कविता बहुत दूर तक जा ही कैसे सकती थी? पास-पड़ोस और सौत से आगे उनकी कविता बढ़ ही नहीं सकती थी। खंडिता की ही उक्तियों में वे उलझे पड़े रहते थे, उन्हें और आगे बढ़ने का न हौसला था और न मति। इसलिए मुक्तकों में आकर प्रेम बहुत संकुचित रूप में ही दिखाई पड़ा। फिर भी प्रेम की स्वतंत्रत उद्भावना करनेवाले कवि भी हुए जिनमें प्रेम का विस्तृत रूप दिखाई पड़ा।

प्रेम के संयोग पक्ष में कवि लोग अधिकतर आलंबन के रूप का वर्णन और हृदय में पड़नेवाले उसके प्रभाव का ही वर्णन करते देखे जाते हैं। कुछ पारस्परिक उक्तियाँ होती हैं और कुछ हास्यविनोद भी पाया जाता है। नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ भी देखी जाती हैं। बिहारी ने थोड़ा-बहुत सबका वर्णन किया है पर विभाव पक्ष का रूप-वर्णन और आलंबनगत चेष्टाओं और मुद्राओं का विशेष रूप से वर्णन किया है। ऋतुओं आदि का वर्णन कवि लोग उद्दीपन-विभाव के रूप में किया करते हैं। बिहारी में भी ऋतुओं का वर्णन आया है, पर अधिकांश उद्दीपन के रूप में ही होने से वह संयोग-पक्ष में आता है। वियोग-पक्ष में बारहमासा का वर्णन होता है, वह बिहारी ने नहीं किया, पर वर्षा के वर्णन की उक्तियाँ वियोग-पक्ष में जाती हैं क्योंकि उनमें विरह-वेदना का का ही विशेष वर्णन है। नखशिख-वर्णन भी संयोग-पक्ष के अंतर्गत आता है। बिहारी ने अंगों का भी वर्णन किया है और परंपरा के अनुसार

अंगों में पहने जानेवाले आभूषणों का भी। इस प्रकार मोटे तौर से बिहारी में परंपरागत सभी प्रकार के संयोग-पक्ष के वर्णन आ जाते हैं।

ऊपर हम प्रेम के विस्तार की चर्चा कर चुके हैं और यह भी बतला चुके हैं कि कवियों ने किस प्रकार उसे संकुचित रूप दे दिया है। पर स्वतंत्र उद्भावनावाले कवियों ने प्रेम के विस्तार का ही विशेष रूप से वर्णन किया है। बिहारी में दोनों प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं। संयोग-पक्ष का संकुचित रूप नायिकाभेद के दायरे में ही सिमटा हुआ मिलता है, उसमें जिस प्रकार नायिकाओं का विस्तार से वर्णन होता है उसी प्रकार विपरीत आदि के परंपराभुक्त वर्णन भी आते हैं। बिहारी ने उसके अनुगमन पर विपरीत और सुरतांत के वर्णन भी चाव से किए हैं, पर हैं वे बहुत थोड़े। नायिकाभेद की इस परंपरा में एक प्रकार से प्रसंगों का आक्षेप बहुत कुछ बँधा रहता है, पर स्वतंत्र उद्भावना करते समय कवि को नये नये प्रसंगों की कल्पना करनी पड़ती है। बिहारी प्रसंगों की कल्पना करने में दक्ष थे इसलिए उन्होंने उस बँधी हुई परिपाटी के भीतर भी जगह जगह नयी कल्पनाएँ की हैं। हम पहले ही उनके प्रसंग-विधान के संबंध में लिख चुके हैं। यहाँ पर उनकी परंपराभुक्त कविता का अधिक विश्लेषण न करके प्रेम के विस्तार को लेकर बनी हुई दूसरे प्रकार की कविता पर ही कुछ विचार करेंगे।

प्रेम का प्रभाव ऐसा व्यापक होता है कि प्रिय के संपर्क में आनेवाली वस्तु भी प्रेम का आलंबन बन जाया करती है। प्रेम के भीतर प्रेमियों को अपने प्रिय को सताने में भी एक प्रकार का आनंद आया करता है। उनके चित्त में प्रिय के स्पर्शजन्य सुख की जो वासना होती है उसके परिणाम-स्वरूप वे थोड़े से कष्ट को भी सुखदायक मान लेते हैं। प्रेम की इस प्रकार की व्यंजना बिहारी ने यद्यपि बहुत अधिक नहीं की है, पर उनकी कविता में इसके उदाहरण भी उसी प्रवणता के साथ मिलते हैं, जिस प्रवणता के साथ उन्होंने नायिकाभेद के वर्णन किए हैं। इस विचार से यह साफ पता चलता है कि बिहारी में अच्छा कवि-हृदय था, पर परंपरा की लकीर पीटने के फेर में उन्होंने स्वतंत्र उद्भावना की ओर

अधिक रुचि नहीं दिखलाई। यदि बिहारी घनानंद, ठाकुर आदि की भाँति स्वतंत्र उद्भावना में अपनी प्रतिभा लगाते तो उनका प्रेम का निरूपण और भी निखर जाता और वे और भी उत्तम कवि प्रमाणित होते। ऊपर की बातों को स्पष्ट करने के लिए नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं–

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह॥—२७३।

प्रिय की प्रत्येक वस्तु प्रेम का आलंबन बन जाती है। यहाँ नायक के द्वारा उड़ाई हुई गुड्डी भी नायिका के लिए प्रेम का आलंबन है, गुड्डी ही नहीं उसकी छाया तक प्रेम का आलंबन बन गई है।

इसी प्रकार एक नायक कबूतर उड़ा रहा है, नायिका उन कबूतरों की कलाबाजी देख रही है—

ऊँचै चितै सराहियत, गिरह कबूतरु लेतु।
झलकित दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहिं हेतु॥—२७४।

जब कोई किसी भाव में अत्यंत मग्न हो जाता है, किसी के ध्यान में तल्लीन हो जाता है, तो वह अपने को उसी के रूप में समझने लगता है। कितने ही भक्तों के संबंध में इस प्रकार की बातें प्रसिद्ध हैं कि वे भगवान के या अपने उपास्य के ध्यान में इतने मग्न हो गए कि उन्होंने अपने को ही उपास्य समझ लिया और पूजा की सामग्री देवता के सामने न रखकर अपने ही सामने रख ली, देवता को माला न पहनाकर स्वयं ही माला पहन ली। श्रीरामकृष्ण परमहंस के बारे में ऐसा ही प्रसिद्ध है। वे काली की पूजा की माला स्वयं पहनकर मग्न हो जाते थे। भक्ति के क्षेत्र में जिस प्रकार उपास्य और उपासक की एकता सुनी जाती है, उसी प्रकार भाव के क्षेत्र में प्रिय और प्रेमी की एकता भी होती है। कोई नायिका नायक के ध्यान में इतनी मग्न हो गई है कि वह अपने को ही नायक समझकर स्वयं ही अपने पर रीझने लगी है। भाव के क्षेत्र की यह एकता भावतल्लीनता की चरम सीमा है—

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि॥—५८३।

अब प्रेम के विस्तार के कुछ और स्वरूप देखिए। प्रेमी बराबर यह चाहता है कि प्रिय का सहयोग या सान्निध्य मुझे प्राप्त हो। वह प्रिय के इस सान्निध्य के लिए कष्ट की भी परवाह नहीं करता, प्रेम भाव के भीतर कष्ट भी प्रेम-स्वरूप ही हो जाता है। किसी नायिका के पैर में काँटा गड़ गया है। उसे काँटे के गड़ने की परवाह नहीं है, वह इसी बात में मग्न है कि प्रिय आकर मेरे पैर से काँटा निकाल रहा है।

इहिं काँटैं मो पाइ गड़ि लीनी मरति जिवाइ।
प्रीति जतावत भीति सौं मीत जु काढ्यो आइ॥—६०५।

यहाँ पर आलंकारिक 'अनुज्ञा' अलंकार मानते हैं, क्योंकि दोष को भी गुण के रूप में माना गया है। प्रिय का स्पर्श इतना अधिक सुखद है कि काँटे ने जीती को मारा नहीं, सुख में दुःख नहीं दिया, उलटे जो दुःख पहले से था वह दूर हो गया। प्रिय के द्वारा प्राप्त दुःख तक जो सुखद माने जाते हैं, वह केवल इसी भावना से। नायक के द्वारा प्राप्त नखक्षत का भी नायिकाएँ इसी से सूखने नहीं देतीं।

इसी प्रकार दूसरे पक्ष को कुछ साधारण कष्ट देकर आनंद लूटने का भी अभ्यास पड़ जाता है। मुग्धाओं को चिढ़ाना, उनके चित्त के लिए चुभती बात कहना, किसी विधि से उन्हें चौंकाना, उनकी क्रीड़ाओं को देखने के लिए, उनकी चेष्टाओं का आनंद लूटने के लिए जान बूझकर अनजान की तरह खेलवाड़ करना नायकों की स्वाभाविक प्रकृति होती है। एक नायक महोदय कँकरीले मार्ग पर किस प्रकार नायिका को ले जा रहे हैं, देखिए—

नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल॥—६०६।

नायक और नायिका देवदर्शन को अथवा और कहीं जा रहे हैं। मार्ग एक ओर कँकरीला है, दूसरी ओर साफ है। पैरों में कंकड़ गड़ने से नायिका 'सी सी' करने लगती है। यह 'सी सी' नायक को अच्छी लगती है, इसलिए नायक जान-बूझकर चलते-चलते कँकरीले रास्ते से

चलने लगता है। वह नाट्य इस प्रकार का करता है मानो भूलकर कँकरीले मार्ग पर आ गया है।

प्रेम के ऐसे न जाने कितने खेलबाड़ हो सकते हैं। श्रीकृष्ण वृंदावन में न जाने कितने खेलवाड़ किया करते थे, चीरहरण उसी खेलबाड़ में से एक था। गोपिकाएँ भी न जाने कितने खेलवाड़ किया करती थीं। होली के अवसर पर उनका स्त्री का वेश बना देना, उनको परेशान करना एक साधारण बात थी, सभी कवि इस खेल का वर्णन करते आए हैं। इसी प्रकार मट्ठे के लिए उन्हें नाचने को विवश करना, उनकी मुरली छिपा लेना आदि बहुत सी क्रीड़ाएँ वृंदावन में हुआ करती थीं। बिहारी ने यदि कृष्णलीला ही प्रधान रखी होती तो वे भी इस प्रकार की न जाने कितनी क्रीड़ाओं का उल्लेख करते, पर उन्होंने और कवियों की भाँति केवल सामान्य रूप से ही नायक-नायिकाओं का वर्णन किया है, इसीसे उन्हें नये नये प्रसंग जुटाने पड़े हैं। फिर भी कृष्णलीला के संबंध के जो वर्णन इनकी रचना में पाए जाते हैं वे अच्छे हैं। दो-एक उदाहरण लीजिए—

> बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
> सौंह करै, भौंहन हँसै देन कहै नटि जाइ॥—४७२।
>
> उन हरकी हँसि कै, इतै इन सौंपी मुसकाइ।
> नैन मिलैं मन मिलि गए दोऊ मिलवत गाइ॥—१२८।

कबि लोग क्रीड़ाओं में 'चोरमिहीचनी' या आँखमिचौनी का भी वर्णन करते हैं, जलक्रीड़ा का भी वर्णन होता है, शयनगृह में सो जाने के झूठे बहाने भी होते हैं, झूले की क्रीड़ा में, फाग के खेल में वे एक दूसरे को चिढ़ाया करते हैं। इन सबका वर्णन बिहारी ने भी किया है। बिहारी ने प्रचलित परंपरा की कोई बात छोड़ी नहीं है, सब प्रकार की रुचिवालों के लिए उदाहरण प्रस्तुत कर दिए हैं। इनकी ऐसी उक्तियों में विशेषता यही है कि प्रेम की सच्ची व्यंजना में ही इनका प्रयोग अधिकतर किया गया है। बिहारी सभी जगह खेलबाड़ नहीं करते, जब वे प्रेम की स्वाभाविक व्यंजना में प्रवृत्त होते हैं तो तमाशा खड़ा करने से दूर रहते हैं, पर जहाँ केवल परंपरा पर ही उनकी दृष्टि रहती है, वहाँ अवश्य

उनकी रचना लद्धड़ हो जाती है। परंपरा के भीतर भी जहाँ बँधी हुई लकीर पर उन्हें चलना पड़ा है वहीं ऐसा अधिक हुआ है। कुछ उदाहरण देखिए—

दोऊ चोरमिहीचनी खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै छुवत हियैं लपटात॥—५३०।

इसी प्रकार आँख मूँदने का यह खेल देखिए—

प्रीतम-दृग-मींचत प्रिया पानि-परस-सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नेकु न होति जनाइ॥—४४२।

विनोद में जब लोग किसी की आँख पीछे से आकर मूँद लेते हैं तो जिस व्यक्ति की आँख मूँदी जाती है वह आँख मूँदने वाले को पहचानकर बतलाता है। यहाँ नायक ने नायिका की आँखें मूँदी हैं। नायिका पहचान कर भी नहीं पहचान रही है, करस्पर्श का सुख उसकी इस बहानेबाजी का कारण है।

मुखु उघारि पिउ लखि रहत, रह्यौ न गौ मिस-सैन।
फरके, ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन॥—६३६।

नायिका सोने का बहाना करके लेट रही है, प्रिय मुँह खोल कर उसका बहाना निरख रहा है। अंत में दोनों से रहा नहीं गया और नेत्र जुट गए। 'मैं मिसहै सोयौ' भी इसी प्रकार का दोहा है।

नायिका के मस्तक पर नायक ने टीका लगाया है, पर कंप से वह टेढ़ा-मेढ़ा हो गया है, फिर भी उस टेढ़े तिलक ने नायिका में कितना बाँकपन ला दिया है—

कियौ जु चिबुक उठाइ कै कंपित कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति, टेढ़ैं तिलक लिलार॥—५१८।

प्रिय के दंतक्षत को नायिका कितना चाहती है—

छिनकु उघारति छिनु छुवति राखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिनु पिय-खंडित अधर, दरपन देखत जाइ॥—६६५।

प्रियतम का प्रतिबिंब देखने में नायिका कितनी तल्लीन है—

कर-मुँदरी की आरसी प्रतिबिंबित प्यौ पाइ।
पीठि दियैं निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ ॥—६११।

तुलसीदासजी ने भी सीताजी की इस स्थिति का वर्णन बड़े मनोहर ढंग से कवितावली में किया है—

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं ॥
राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं ॥

विवाह के अवसर पर कौतुक-गृह (कोहबर) में वर और कन्या को जुआ खेलाया जाता है। दोनों उस जुए में जीतने का प्रयत्न करते हैं। पर राम का स्वरूप देखने के लिए जानकी हाथ को बढ़ाती ही नहीं हैं, कंकन के नग में उनकी परछाहीं देख रही हैं।

फाग की क्रीड़ा भी बिहारी ने अच्छी कही है—

जज्यौं उझकि झाँपति बदनु, झुकति बिहँसि सतराइ।
तत्यौं गुलाल मुठी झुठी, झझकावत प्यौ जाइ ॥—५०३।

प्रेम के भीतर केवल क्रीड़ा ही नहीं आती, उक्तियाँ भी आती हैं। भाव की व्यंजना का पूर्ण विस्तार कथनों में ही दिखाई पड़ता है। अनुभावों के द्वारा भाव-व्यंजना होती अवश्य है, पर अनुभावों की सीमा निर्धारित ही है, कथनों की कोई सीमा नहीं। उसका विधान भाव को नाना प्रकार से व्यक्त करता है। बिहारी ने प्रेम की कहा-सुनी कम रखी है। अधिकतर कहा-सुनी खंडिता नायिका के वर्णन में ही उन्होंने रखी है, जिसमें परंपरा के अनुसार नायिका कुछ चिह्नों को लेकर झगड़ती है। उक्ति-प्रत्युक्ति का जैसा विधान प्रेम की नाना प्रकार की वृत्तियों के प्रकाशन में होना चाहिए वैसा बिहारी में नहीं है। नीचे के दोहे की सी उक्ति-प्रत्युक्ति भी बिहारी में और नहीं है—

बाल, कहा लाली भई, लोइन-कोइन, माँह।
लाल, तिहारे दृगनु की, परी दृगनु मैं छाँह ॥—१६८।

खंडिता की और कुछ मानिनी एवं अनुरागिनी की उक्तियों में बिहारी

ने प्रेम की कहा-सुनी कराई है, पर उनमें एक ही बात बार बार फेंटी गई है। इसलिए इनकी रचना में कथन के विचार से कमी अवश्य है। अधिकतर वर्णन बाहर से किसी बात को लखनेवाले के रूप में ही प्रस्तुत किए गए हैं। आश्रय की उक्तियाँ केवल रूप-वर्णन, चेष्टा-वर्णन या स्मरण आदि के रूप में ही हैं; आश्रय और आलंबन दोनों के कथन के रूप में नहीं। हो सकता है कि मुक्तक-रचना होने के कारण ही बिहारी उक्तियों का विधान न कर सके हों, दोहे का छोटा साँचा भी उक्तियों के विस्तार के लिए पर्याप्त न रहा हो, प्रबंध के भीतर तो उसके बिना काम नहीं चल सकता।

अब रूप-वर्णन को लीजिए। रूप-वर्णन में नखशिख भी आता है और सुकुमारता आदि की व्यंजना करनेवाली रचनाएँ भी। चेष्टाओं एवं मुद्राओं का वर्णन तो बिहारी ने खूब किया है। रूप का निरूपण केवल उसके वर्णन के रूप में भी होता है और हृदय पर पड़नेवाले प्रभाव के रूप में भी। विभाव पक्ष के इस निरूपण में बिहारी ने वर्णन ही प्रधान रखा है, हृदय पर पड़नेवाले प्रभाव का भी कथन है अवश्य, पर थोड़ा। जहाँ प्रभाव का वर्णन है भी वहाँ वह रूप-वर्णन की प्रधानता को ही लिए हुए है, हृदय पर पड़नेवाले प्रभाव का शुद्ध एवं पृथक् निरूपण नहीं है। देखिए—

छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे, सुकुमार।
मन बाँधत वेनी-बँधे नील छबीले बार॥—५७२।

दृगनु लगत बेधत हियहि बिकल करत अँग आन।
ए तेरे सब तैं बिषम ईछन तीछन बान॥—३४६।

इस प्रकार की उक्तियाँ भी अपेक्षाकृत कम ही हैं। अधिकतर उक्तियाँ इसी प्रकार की मिलेंगी—

सुदुति दुराई दुरति नहिं, प्रगट करति रति-रूप।
छुटैं पीक औरै उठी लाली ओठ अनूप॥—९६।

नखशिख के भीतर इन्होंने सभी प्रधान अंगों का वर्णन किया है, मुख्य मुख्य अंगों के आभूषणों का भी वर्णन मिलता है। अंगों में से

अधिक रचना नेत्रों पर ही की गई है। शृंगार में नेत्रों का वर्णन मुख्य है। मुक्तक-रचना करनेवाले इन्हीं पर अधिक उक्तियाँ लिखते आए हैं। सूरदास के सूरसागर में भी नयनों पर ही अधिक उक्तियाँ कही गई हैं। अंतर्गत भावों को व्यक्त करनेवाला मुख कहा जाता है और उसमें मुख्यता नेत्रों की ही है। नेत्रों पर आज तक न जाने कितनी उक्तियाँ कही गई हैं। बिहारी ने नेत्रों का वर्णन सब प्रकार का किया है, दृष्टि-संचार का, उनकी हृदय-बेधकता का, उनकी चंचलता का, उनकी बिशालता का आदि आदि। कहीं सीधा वर्णन है और कहीं रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष आदि अलंकारों के सहारे वर्णन किया गया है, कहीं कहीं उनकी अद्वितीयता का कथन भेदकातिशयोक्ति के रूप में भी है, जहाँ कवि वर्ण्य के संबंध में मौनावलंबन करके पाठक के ही सिर उनकी अनुभूति लाद दिया करता है। तीनों प्रकार के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

इती भीरहूँ भेदि कै कितहूँ है इत जाइ।
फिरै डीठि जुरि डीठि सौं, सबकी डीठि बचाइ॥—६१२।

पहुँचति डटि रन-सुभट लौं रोकि सकैं सब नाँहि।
लाखन हूँ की भीर मैं आँखि उहीं चलि जाँहिं॥—१७७।

कुछ लोग यहाँ 'वीर रस' भी मानते हैं। पर रस स्वयं अलंकार्य है, अलंकार नहीं। यदि किसी रस की सामग्री अलंकार रूप में आती है तो वहाँ वह रस नहीं माना जाता।

अनियारे, दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिहिं बस होत सुजान॥—५८८।

नखशिख में केवल अंगों का ही वर्णन नहीं होता, बिंदी, मेंहदी आदि शृंगारों का भी वर्णन आता है और शरीर के आभूषण तथा कंचुकी आदि आभरणों का वर्णन भी। बिहारी ने थोड़ी-बहुत सभी प्रकार की सामग्री एकत्र कर दी है। यह सब बिभाव-पक्ष के आलंबन के अंतर्गत है। नायिकाभेद में नायिकाओं, नायकों, दूती, सखी आदि का जो वर्णन होता

है, वह श्रृंगार के विभाव-पक्ष के आलंबन के ही अंतर्गत आता है। रसों के जो चार अवयव कहे गए हैं उनमें से कुछ रस ऐसे हैं जिनमें केवल आलंबन का ही निरूपण कर देने से रसात्मक अवस्था उत्पन्न की जा सकती है। हास्य में यह आवश्यक नहीं है कि आश्रय का भी विधान किया ही जाय, केवल हास्य के आलंबन का निरूपण मात्र हँसी उत्पन्न कर सकता है। बीभत्स में भी आलंबन का ही वर्णन रसस्थिति उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होता है। ठीक इसी प्रकार श्रृंगार में भी आलंबन का वर्णन कर देने मात्र से रस की स्थिति हो सकती है। इसलिए आलंबन का वर्णन भी रसात्मक ही कहा जायगा।

आलंबन के अतिरिक्त विभाव-पक्ष में उद्दीपन भी आता है। आलंबन की चेष्टाएँ उद्दीपन होती हैं यह कहा गया है। आलंबन का रूप-वर्णन भी जब स्मरण के रूप में होगा तो वहाँ उद्दीपन का ही कार्य करेगा। श्रृंगार में अन्य रसों की अपेक्षा उद्दीपन के संबंध में एक विशेष बात देखी जाती है। अन्य रसों में बाहरी उद्दीपन या तो आते ही नहीं या बहुत कम आते हैं। पर श्रृंगार में बाहरी उद्दीपन भी आया करते हैं, नदीतट, चंद्रिका, पवन, ऋतु आदि श्रृंगार के बाहरी उद्दीपन हैं। इसीलिए कवियों ने ऋतु का वर्णन प्रायः श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में ही किया है। जिस प्रकार आलंबन के नखशिख और भेदों को लेकर ग्रंथ लिखे गए उसी प्रकार ऋतु का वर्णन लेकर 'षट्ऋतु' की पुस्तकें भी बनीं। बिहारी ने चंद्रमा, पवन आदि का भी उद्दीपन के रूप में वर्णन किया है और ऋतुओं का भी। ऋतुओं का वर्णन कहीं कहीं उद्दीपन से उन्मुक्त भी मिलता है, यद्यपि कुछ टीकाकारों ने उनमें भी प्रसंग का विधान श्रृंगार के अनुकूल कर लिया है। उदाहरण लीजिए—

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर-भौंर मधु अंध ॥—४९६।

यह वसंत का सीधा वर्णन है, पर इसमें भी इस प्रसंग की कल्पना कर ली गई है कि सखी संघट्टन के उद्देश्य से ऐसा नायिका से कह रही है, इसी प्रकार न जाने कितने प्रसंगों की कल्पना इस दोहे के संबंध में

की जाती है, और की जा सकती है। पर यह केवल वसंत का वर्णन है, यही मान लेना पर्याप्त होगा।

वसंत के पुष्पों आदि को लेकर और वर्षा के जल-बर्षण को लेकर विरहियों की कितनी ही उक्तियाँ कही गई हैं। ग्रीष्म के ताप, वर्षा के अंधकार, शिशिर के शैत्याधिक आदि की वस्तुव्यंजना भी बिहारी ने रखी है—

> कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ।
> जगतु तपोबन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ॥—४८९।

गर्मी में दोपहर के समय छायादार स्थान कम मिलते हैं, इसकी व्यंजना इस प्रकार है—

> बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह।
> देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह॥—५२।

पावस की रात्रि के घने अंधकार की व्यंजना इस प्रकार है—

> पावस-घन-अँधियार महि रह्यौ भेदु नहिं आनु।
> राति द्यौस जान्यो परतु लखि चकई चकवानु॥—४९६।

इसमें 'चकई-चकवा' की रात में अलग रहनेवाली प्रसिद्ध प्रकृति को लेकर कुछ लोगों ने बिहारी के 'प्रकृति-निरीक्षण' में दोष निकालने का भी प्रयत्न किया है, इसके लिए 'पक्षि-विज्ञान' के कितने ही ग्रंथ उलटे गए हैं और बतलाया गया है कि चक्रबाक हंस की ही जाति का पक्षी है और हंस के साथ वह भी वर्षा में उड़ जाता है। इसके अतिरिक्त चकई-चकवा का रात में अलग रहना भी प्रकृति-सिद्ध बात नहीं है, आदि आदि। यहाँ पर इतनी दूर तक दौड़ लगाने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि चकई-चकवा बरसात में उड़कर कहीं चले जाते हैं, तो वे पाले हुए माने जायँगे। जैसा बड़े बाबुओं और नरेशों के यहाँ अब भी देखा जाता है। वे अनेक पक्षी पाल रखते हैं, उनमें चकई-चकवा भी पाले हुए माने जायँगे। इसके अतिरिक्त यदि चकई-चकवा की प्रकृति रात में अलग रहने की नहीं है तब भी उनकी यह प्रकृति कवि-परंपरा में तो प्रसिद्ध है ही। बिहारी यहाँ जो

कुछ कहना चाहते हैं, उसका काम इसी परंपरा से चल सकता है। उक्ति को बहुत दूर तक घसीटना व्यर्थ है !

शृंगार के संयोग-पक्ष के संबंध में और अधिक न कहकर बिहारी द्वारा की गई सौंदर्य, दीप्ति, कोमलता आदि की व्यंजना पर भी थोड़ा-सा विचार और कर लेना चाहिए। बिहारी की इस प्रकार की व्यंजनाएँ अधिकतर अनुमान के सहारे पर ही टिकी हुई हैं, इसलिए वे अधिक काव्योपयुक्त नहीं कही जा सकतीं। पर कुछ लोग जिस प्रकार ज्योतिष आदि को लेकर उनकी प्रशंसा का पुल बाँधते हैं उसी प्रकार इन उक्तियों को लेकर भी। इनके उदाहरण प्रस्तुत करके कुछ विचार करने की आवश्यकता है—

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन ओप-उजास॥—७६

किसी के मुख के प्रकाश को लेकर यहाँ तक कहना केवल चमत्कार-ही-चमत्कार है, स्वारस्य कुछ भी नहीं। काव्य में हृदय के ऊपर किसी के मुख की चमक का जो प्रभाव पड़ता है, उसीका वर्णन अधिक प्रभावोत्पादक हो सकता है, अनुमान और तर्क को लेकर चलनेवाली ये उक्तियाँ केवल तमाशा हैं। काव्य का साधक शुद्ध अनुमान नहीं होता, भावप्रेरित तर्क ही काव्य में साधक हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि उनके मुख की चमक ऐसी है मानो वे अपनी मंडली के चंद्रमा हैं, तो काव्यार्थ साध्य होगा और यह कथन मजे में उसका साधक बन जायगा। यदि यह कहा जाय कि उनके मुखचंद्र के प्रकाश के कारण उस महल्ले में रात में दीपक जलाने की जरूरत नहीं पड़ती तो अर्थ सिद्ध होगा और काव्य के उद्देश्य में बाधक बन जायगा। बिहारी ने दोनों प्रकार की उक्तियाँ रखी हैं। सुकुमारता को लेकर बनी हुई उनकी दोनों प्रकार की उक्तियाँ देखिए—

अरुन-बरन तरुनी-चरन-अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँगु रँगु सी मनौ चपि बिछियनु कैं भार॥—४१८।

नायिका की अँगुलियाँ अत्यंत कोमल और लाल-लाल हैं, उनकी ललाई ऐसी जान पड़ती है मानो बिछुओं के भार से उनसे रंग निचुड़

रहा हो। यहाँ तक तो गनीमत है, कोमलता और ललाई की व्यंजना में बाधा नहीं पड़ रही है, पर 'गुलाब के झँवा' से भी झिझक कर भागना तमाशा है—

छाले परिबे कैं डरनु सकै न हाथ छुवाइ।
झझकत हियैं गुलाब कैं झँवा झँवैयत पाइ॥—४८३।

प्रेम के संयोग-पक्ष के इस विवेचन से पता चल गया होगा कि बिहारी की कविता में सब प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं। प्रेम के विस्तार का वर्णन भी मिलता है और रूढ़ि के अनुकूल संकुचित रचना भी। नख-शिख आदि के वर्णनों को देखने से पता चला होगा कि वे परंपरा की लकीर पीटते हुए भी अपने दोहे में एक स्वतंत्र लक्ष्य लेकर चलते हैं और कौशलपूर्वक उस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। बिहारी में जैसी प्रतिभा थी, वह यदि परंपरा के चक्कर में न पड़ती तो उनका काव्य-गौरव इससे कहीं अधिक होता। बिहारी-सतसई के ७०० दोहों के कारण ही इनकी इतनी प्रसिद्धि हुई है। अन्य कवियों ने सैकड़ों ग्रंथ लिख कर भी इतनी प्रसिद्धि नहीं पाई, उतने लोगों का मनोरंजन नहीं किया, इतने टीकाकार तुलसी को शायद मिले हों पर और किसी को तो मिले ही नहीं। यह बात ही बतलाती है कि किसी की कविता के गुण के कारण उसका मान होता है, काव्य-परिमाण के कारण नहीं। इतना होने पर भी यह कहने में कोई हिचक न होनी चाहिए कि बिहारी ने परंपरा की जो लकीर पकड़ी है, वह भी समय की रुचि के अनुकूल होने के कारण उनकी प्रसिद्धि का कारण है। यदि जनता की रुचि ऐसे शृंगार और चमत्कार की ओर न होती तो बिहारी की प्रसिद्धि इतनी अधिक न हो पाती। बिहारी में उस प्रतिभा का भी संकेत मिलता है जो प्रेम के सच्च स्वरूप की व्यंजना करने में ठीक उसी प्रकार समर्थ है, जिस प्रकार मध्ययुग के ठाकुर, घनानंद आदि स्वच्छंद कवियों की कविता। इसलिए यह मानना पड़ता है कि बिहारी ने लोक की रुचि पहचानकर ही अपनी प्रतिभा का व्यय किया था, और 'समै पलट पलटै प्रकृति' को वे खूब जानते थे। उनकी प्रतिभा सब ओर अपना प्रसार करती हुई दिखाई

पड़ती है। प्रेम के भीतर उन्होंने सब प्रकार की सामग्री, सब प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किए और वे भी इन्हीं सात सौ दोहों में ही। यह भी उनकी एक विशेषता ही है। नायिकाभेद या शृंगार का लक्षण-ग्रंथ लिखने वाले भी किसी नायिका या अलंकार आदि का वैसा साफ उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हुए, जैसा बिहारी ने किया। यही उनकी प्रौढ़ता, काव्य के अध्ययन और रचना-शक्ति के लिए पर्याप्त प्रमाण है। इस विचार से बिहारी मध्ययुग के एक बहुत समर्थ कवि थे, इसमें संदेह नहीं और इसके साथ ही यह भी मान लेने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए कि उनकी जोड़ का हिंदी में कोई दूसरा कवि नहीं हुआ। क्योंकि मुक्तकों में जो जो विशेषताएँ होनी चाहिएँ वे बिहारी में सबसे अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। दुराग्रह करनेवालों की दवा ही क्या है?

विप्रलंभ एवं विरह-वर्णन

स्नेह के संबंध में प्राचीन प्रवाद यह चला आ रहा है कि वियोग में वह क्षीण हो जाता है, पर इस प्रवाद का खंडन महाकवि कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में यक्ष द्वारा करा दिया है। वे कहते हैं कि वियोगावस्था में प्रेम का भोग नहीं होता इसलिए वह राशीभूत हो जाता है।[1] वस्तुतः प्रेम का वियोग-पक्ष उसका विस्तार दिखाने के लिए बहुत बड़ी जगह उत्पन्न कर देता है। वियोग में ही प्रेम की वृत्ति यहाँ तक अपना प्रसार कर लेती है कि जड़ वस्तुएँ भी प्रेम को सुनाने के लिए योग्य समझ ली जाती हैं। कोई प्रेम की संयोगावस्था में चाहे वृक्ष और लताओं से प्रेम-निवेदन या प्रेम-कथन न करे पर वियोगावस्था में वियोगी जड़ पदार्थों से भी अपना प्रेम कहता फिरता है, उनसे भी मार्ग पूछता फिरता है। सीता के वियोग में राम 'लता-तरु-पाँती' से उनका पता पूछते हुए पाए जाते हैं। इसलिए संयोग की अपेक्षा वियोग-पक्ष में ही हृदय का विस्तार दिखाने की जगह अधिक मिलती है।

विप्रलंभ शृंगार के मुख्य चार भेद माने जाते हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। प्रिय का संयोग होने के पूर्व उसके गुणश्रवण, दर्शनादि के कारण उससे मिलने की जो अभिलाषा होती है, और मिल न सकने के कारण जो तड़प या वेदना होती है वही पूर्वराग है। अभिलाष की प्रधानता होने के कारण ही इसे 'अभिलाषा-हेतुक' वियोग भी कहा गया है। संयोग के अनंतर प्रेम की स्वाभाविक वृत्ति के कारण अथवा ईर्ष्या के कारण जो नायक-नायिका परस्पर रूठ जाते हैं वही मान है। ग्रंथों में प्रणय-मान का वर्णन तो कम होता है पर ईर्ष्या-मान का वर्णन विस्तारपूर्वक देखा जाता है। इसीलिए कुछ लोग मान को

---

१. स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वयोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति।—मेघदूत, उत्तर भाग, ४६।

'ईर्ष्या-हेतुक' ही कहते हैं। किसी दूसरी स्त्री का नाम स्वप्न में बड़बड़ाने से, शरीर में रतिचिह्नों के प्रकट होने से या गोत्रस्खलन अर्थात् दूसरी नायिका का नाम ले बैठने से यह मान उठ खड़ा होता है। पति के कार्य-वश या किसी शाप से विदेश में पड़ जाने पर प्रवास होता है। करुण विप्रलंभ वह है जहाँ मृत्यु के बाद भी मिलने की आशा रहती है। जैसे कादंबरी में पुंडरीक के मरने पर भी आकाशवाणी होने पर महाश्वेता को उसके मिलने की आशा बँध गई थी।)

(इन चारों भेदों में से पूर्वराग में उत्कट अभिलाषा-मात्र रहती है, इसलिए वेदना का अधिक विस्तार दिखलाने की जगह उसमें नहीं रहती। जो लोग ऐसा जानते हुए भी पूर्वानुराग में ही नाना प्रकार की व्याधि खड़ी कर दिया करते हैं वे प्रेम के स्वरूप को ठीक नहीं समझते। (मान भी घर के घेरे के भीतर ही होता है, इसलिए उसमें भी वेदना का बढ़ा चढ़ा रूप ठीक नहीं। उसे तो विप्रलंभ के भीतर न मानकर संयोग के भीतर ही मानना चाहिए।) मान थोड़े समय तक रहेगा और फिर उसकी शांति हो जायगी। अन्य संचारियों की भाँति मान का कोप भी संचरण करके लुप्त हो जायगा। इसलिए उसे विप्रलंभ में लाना ही ठीक नहीं। इसी से कुछ लोगों ने कहा है कि यदि खुशामद से पूर्व ही मान उड़ जाय तो विप्रलंभ नहीं माना जा सकता। शृंगार के दोनों भेदों में योग और अयोग ही प्रधान माना जाता है। मान की अवस्था में संयोग नहीं रहता, इसीसे वह विप्रलंभ के भीतर माना गया है। चाहे जो हो, मान में वियोग की वह भीषण वेदना न होती है और न अच्छे कवि उसकी भीषणता का वर्णन ही करते हैं। (करुण विप्रलंभ दैवी व्यापारों के संयोग से घटित होता है इसलिए आजकल की दृष्टि से वह खेलवाड़ ही समझा जायगा। यदि मरण का विधान बहुत दूर तक न घसीटा जाय तो करुण विप्रलंभ के बहुत-से उदाहरण संस्कृत-साहित्य में खोजे जा सकते हैं, जैसे भवभूति के उत्तर-रामचरित एवं मालती-माधव में, कालिदास के विक्रमोर्वशीय एवं शकुंतला में भी। इन नाटकों में नायक-नायिका का वियोग ऐसा वर्णित है जिसमें पुनर्मिलन अनिश्चित है। पर नायिका की

मृत्यु का निश्चय न होने से यह श्रृंगार के भीतर ही माना जायगा, मरण का निश्चय हो जाने पर जो विषाद होता है वह करुण रस का विषय है।

इस प्रकार केवल प्रवास ही एक ऐसा भेद है जिसमें वियोग-पक्ष की सारी सामग्री का प्रयोग हो सकता है। यही विप्रलंभ का ठीक स्वरूप है, वेदना की तीव्रता दिखाने के लिए इसमें पूरी जगह भी मिल सकती है। बिहारी ने पूर्वानुराग का वर्णन भी कुछ अधिक किया है, पर प्रवास का ही वर्णन उनमें अधिकतर मिलता है। मान पर भी उनकी रचना मिलती है, जिसे उन्होंने दूर तक नहीं घसीटा है, कम से कम मान-शांति के अनंतर विरह के कारण नदी-तालाब तो नहीं सुखाए हैं, जैसा हिंदी के कुछ कवि करते हुए देखे जाते हैं।[1]

वियोग-पक्ष में वेदना की पूर्ण विवृति दिखाने की जगह मिलती है। इसलिए दश कामदशाओं का वर्णन भी इसमें आता है, जिनके नाम ये हैं—अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। इनमें से अधिक वर्णन कवि लोग व्याधि का ही करते हैं। बिहारी ने यों तो सभी दशाओं का वर्णन कर दिया है, पर व्याधि का विस्तार ही अधिक है, विरह-वर्णन इसीके अंतर्गत आता है। मरण दशा का वर्णन कवि लोग नहीं किया करते, क्योंकि मरण के वर्णन से रसांतर होने की आशंका रहती है, पर बिहारी ने मरण का भी कौशल से वर्णन कर दिया है।[2] दशाओं के अतिरिक्त संदेश, पत्र आदि का भी वर्णन वियोग के भीतर आता है। प्रवास के भूत, भविष्य और वर्तमान भेदों को दृष्टि में रखकर कई नायिकाओं का वर्णन भी इसीके अंतर्गत आ जाता है।

शास्त्रीय कथा को यहीं छोड़कर बिहारी के विप्रलंभ श्रृंगार पर विचार करने की आवश्यकता है। बिहारी ने जिस प्रकार संयोग-पक्ष में एक

---

१. घन घमंड पावस-निसा, सरवर लगे सुखान।
परखि प्रानपति जानिगो, तज्यौ मानिनी मान॥—पद्माकर।

२. कहा कहौं वाकी दसा हरि प्राननु के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबो लखैं, मरिबो भई असीस॥—बिहारी-सतसई, ११०

ओर केवल बँधे हुए प्रेम की व्यंजना की है और दूसरी ओर प्रेम के विस्तार की, उसी प्रकार विप्रलंभ में भी दो प्रकार के रूप पाए जाते हैं। विरह आदि का वर्णन तो ऊहात्मक ही है, पर पत्रिका के वर्णन में प्रेम के विस्तार की व्यंजना की गई है। विरह के वर्णन में भी कहीं कहीं स्वाभाविक ढंग से ही उक्ति कही गई है जैसे—

करके मीड़ें कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिनुहूँ नीठि पिछानी जाइ॥—५१६।

जब कोई बीमार रहता है तो आसपास के लोग भी उसे नहीं पहचान पाते, यह एक स्वाभाविक बात है। नायिका विरह में इतनी दुबली-पतली हो गई है, उसकी कांति इतनी फीकी पड़ गई है, उसका चेहरा इतना बदल गया है कि पास की सखियाँ भी उसे कठिनाई से पहचान पाती हैं। यहाँ तक तो कोई हानि नहीं, पर जब यह कहा जाता है कि—

इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै, लगी उसासनु साथ॥—३१७।

तो दुर्बलता या क्षीणता की यह नाप-जोख सच्ची अनुभूति को कोसों दूर फेंक देती है।

बिहारी का विरह-वर्णन अधिकतर इसी रूप का है। पहले ही कहा जा चुका है कि यह बाहरी प्रभाव था, पर बिहारी ने विरह की व्यंजना में मध्य मार्ग का अवलंबन किया है। इसमें बाहरी चमत्कार का अतिरेक तो है पर वह भारतीय परंपरा के मेल में ही रखा हुआ है। नायिका हवा के झूले पर झूलती हुई तो कही गई, पर बिस्तर झाड़ने की जरूरत तक वे नहीं गए।[1]

सुकुमारता आदि की व्यंजना के प्रसंग में पहले ही कहा जा चुका है कि काव्यार्थ जहाँ साध्य रहता है वहीं काव्य का उद्देश्य पूर्ण होता है। सिद्ध अर्थ को लेकर शुद्ध अनुमान के सहारे पर चलनेवाली उक्तियाँ बहुत काव्योपयोगी नहीं हो सकतीं। थोथे चमत्कार को लेकर बहुत दूर

१. इंतहाए लागरी से जब नजर आया न मैं।
हँस के वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए॥—नासिक।

तक किसी बात को घसीटना काव्य के व्यापक लक्ष्य एवं उद्देश्य को बरबाद करना है। खेद है कि विरह की उक्तियों में मुक्तक-रचनाकार अधिकतर ऐसा ही करते देखे जाते हैं। वेदना की विवृति की जो जगह वियोग पक्ष में मिलती है उसकी व्यंजना में न लगकर तमाशा दिखाने में प्रवृत्त होना भद्दी बात है। घनानंद आदि कवि, जो सच्ची 'प्रेमपीर' की अनुभूति रखनेवाले हैं, ऐसे खेलवाड़ों में पड़े हुए नहीं देखे जाते। उनकी कविता में तर्क, अनुमान आदि का सहारा नहीं लिया गया है, हृदय की स्वाभाविक अनुभूति ही उसमें बराबर दिखाई पड़ती है। पर बिहारी इस तमाशे में लगे हैं—

सीरैं जतननु सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि-तन-तापु।
बसिबे कौं ग्रीषम-दिननु पर्‌यौ परोसिनि पापु ॥—२६६।
आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस ककै सनेह-बस सखी सबै ढिग जाति ॥—२८३।

'विरह में तपनेवाली नायिका के संबंध में कुतर्क करने की जरूरत नहीं, होली की सी लपटें निकलती रहती हैं, तभी न एक कविजी घोषणा कर गए हैं कि "छाती सों छुवाइ दिया-बाती क्यों न बारि लै"।

औंधाई सीसी, सुलखि बिरह-बरति बिललात।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ छींटौ छुई न गात ॥—२१७।
जिहिं निदाघ-दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उसीर की रावटी खरी आवटी जाति ॥—२४४।

यह ताप मामूली नहीं है, नायक विदेश से ही बैठे बैठे नायिका के जीने का अनुमान भी कर लेता है—

सुनत पथिक-मुँह माह-निसि चलति लुवैं उहिं गाम।
बिन बूझैं बिनहीं कहैं, जियत बिचारी बाम ॥—२८५।

ऐसी ही पद्धति पकड़कर लोग 'विधि की बनावट' चौपट करने में लग गए थे, अच्छा हुआ कि उस वियोगिनी की आह नहीं कढ़ी। ऐसी उक्तियों पर लट्टू होनेवाले को घबड़ाने की जरूरत नहीं, मध्य युग की विरासत आजकल के कवियों को मिल चुकी है। आह से ब्रह्मांड जलाने-

वालों का काफ़िला अभी रुका नहीं है। प्रलयंकर राग गानेवालों का टोटा नहीं हुआ है।

बिहारी ने कहीं-कहीं (आगतपतिका) में नाप-जोख की दो-एक बातें ऐसी कही हैं, जहाँ काव्यार्थ साध्य के रूप में ही बना है इसलिए वे कथन उतने भद्दे नहीं हैं—

रहे बरोठे मैं मिलत पिउ प्राननु के ईसु।
आवत आवत की भई, बिधि की घरी घरी सु ॥—२२३।

ब्रह्मा की एक घड़ी मनुष्य की एक घड़ी से अरबों गुनी बड़ी होती है। पर कवि का तात्पर्य यहाँ गणना गिनाना नहीं है। साधारण बोलचाल में भी 'ब्रह्मा का दिन' देर लगने के अर्थ में आता है। इसलिए यहाँ पर विधि की घड़ी केवल विलंब की सूचना मात्र देती है। यदि कवि यह न कहकर कहता कि वह घड़ी इतने वर्षों की हो गई तो अवश्य नाप-जोख हो जाती। जन-साधारण में प्रचलित सामान्य कथन जहाँ केवल साधक के रूप में कोई व्यंजना करने के लिए आते हैं वहाँ रूढ़ हो जाने के कारण उनकी ऊहा उतनी खटकती नहीं। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भी है—

जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैड़ो घर कौ भयौ पैंडौ कोस हजार ॥—१४५।

ऊपरवाले दोहे में समय की नाप थी यहाँ दूरी की नाप है। पर 'कोस हजार' यहाँ खटकता नहीं, क्योंकि कवि का तात्पर्य यह बतलाता है कि वह थोड़ी सी दूरी हजार कोस सी जान पड़ी। जिस प्रकार ऊपर-वाले दोहे में गम्योत्प्रेक्षा थी, उसी प्रकार इस दोहे में भी। उत्प्रेक्षा के रूप में काव्यार्थ साध्य ही रहा, अतिशयोक्ति आदि की भाँति सिद्ध नहीं, इसी से ये उक्तियाँ खटकने वाली नहीं मानी जा सकतीं। साधारण बोलचाल में भी ऐसी बातें कही जाती हैं, इसलिए रूढ़ि के भीतर आ जाने से इनकी नाप-जोख नष्ट हो गई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि विप्रलंभ के चारों भेदों में प्रवास ही प्रधान है। इसके भीतर नायिकाभेद में से प्रवत्सत्पतिका, प्रवत्स्यत्पतिका,

प्रोषितपतिका और आगतपतिका आ जाती हैं। पत्रिका और संदेश का भी वर्णन इसीमें आता है। इनमें से प्रोषितपतिका का तो वर्णन हो चुका। विरह-वर्णन प्रोषितपतिका का ही होता है। कहना पड़ता है कि बिहारी का प्रवत्स्यत्पतिका आदि का वर्णन प्रोषितपतिका के विरह-वर्णन से कहीं अधिक स्वाभाविक है। पत्रिका और संदेश में भी स्वाभाविकता ही अधिक है और वहाँ प्रेम का विस्तार दिखाने पर ही दृष्टि रखी गई है। कुछ उदाहरण देखिए—

अजौं न आए सहज रँग, बिरह-दूबरैं गात।
अबहीं कहा चलाइयति ललन चलन की बात ॥—२०३।

ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं ही जमुहाइ ॥—३५८।

परंपरा के अनुसार मलार राग गाकर वर्षा करने का आयोजन भी बिहारी ने किया है—

पूस-मास सुनि सखिनु सौं साईं चलत सवारु।
गहि कर बीन प्रबीन तिय गायो रागु मलारु ॥—१४६।

आगतपतिका का 'उछाह' भी देखिए—

मृगनैनी दृग की फरक उर-उछाह तन-फूल।
बिनहीं पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल ॥—२२२।

जब कोई किसी की प्रतीक्षा में बैठा रहता है तो मामूली पत्ता खड़कने से भी वह उसके आने की निश्चित संभावना कर बैठता है। इसी प्रकार पति आनेवाले हैं, इधर आँख ने भी फड़क कर सगुन की सूचना दी। नायिका को उनके आने का पूरा निश्चय हो गया।

एक उदाहरण और लीजिए—

बाम बाँह फरकति, मिलैं जो हरि जीवन-मूरि।
तौ तोहीं सौं भेंटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥—५७२।

एक प्राकृत की गाथा में भी बाएँ नेत्र के फड़कने पर नायिका दाहिने नेत्र को मूँदने की बात कहती है।[१] साहित्य-मर्मज्ञों का कहना है कि

---

१. फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओज ता सुइरम।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम ॥—गाथासतशती, २-३७।

इस प्रकार कानी नायिका अमंगल और असगुन की निशानी हो जायगी, बिहारी ने उसे बचाकर अपनी काव्यमर्मज्ञता का परिचय दिया है।

बहुत दिनों के बाद जब अपने किसी अत्यंत प्रिय से भेंट होती है तो मुँह से बातें नहीं निकलतीं। इसी को लेकर बिहारी कहते हैं—

बिछुरैं जिये संकोच इहि बोलत बनत न बैन।
दोऊ दौरि लगे हियैं किये लजौहैं नैन॥—५७८

(अब पत्रिका और संदेश के उदाहरण देखिए—

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात॥—६०।

नायिका समझती है कि बिरह में मैं जिस प्रकार व्याकुल हूँ उसी प्रकार नायक भी होगा। फिर लिखा-पढ़ी की जरूरत ही क्या! दोनों के हृदय जब एक से हैं तो उनमें व्याकुलता भी एक सी होगी। यही नहीं बिना अक्षरों की पाती भी किस प्रकार बाँची जा रही है—

बिरह-बिकल बिनु ही लिखी पाती दई पठाइ।
आँक-बिहीनीयौ सुचित सूनैं बाँचत जाइ॥—५२६।

प्रिय के यहाँ से आनेवाली वस्तु के प्रति कितनी उत्सुकता होती है! उसको बड़े यत्न से देखने का प्रबंध किया जाता है, चाहे उसमें कुछ भी न धरा हो। पत्रिका भी नायिका के प्रेम का कितना बड़ा आलंबन बन जाती है! इसी की व्यंजना कवि ने इस दोहे में की है। ऊपर की पत्रिका में अंक नहीं थे यहाँ अंक भी हैं—

कर लै चूमि चढ़ाइ सिर उर लगाइ भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति धरती समेटि॥—६३५।

पर कहीं कहीं बिरह-ताप से पत्रिका का जलना आदि भी बिहारी ने लिखा है—

[स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम्।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये।]

ओ बाईं आँख! तेरे फड़कते हुए यदि आज प्रिय आएगा तो दाहिनी को भली भाँति ढककर तुझी से देर तक उन्हें देखूँगी।

तर झरसी ऊपर गरी कज्जल-जल छिरकाइ।
पिय-पाती बिनहीं लिखी बाँची बिरह-बलाइ॥—३२८।

इस दोहे में 'तर झरसी' केवल परंपरा की लकीर पीटना है।

ऊपर बिहारी के विप्रलंभ शृंगार और तदंतर्गत विरह-वर्णन आदि के संबंध में जो कुछ लिखा गया उससे स्पष्ट है कि बिहारी ने विरह-वर्णन तो ऊहात्मक करके बिगाड़ दिया है, पर अन्यत्र प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन करने में अपनी व्यापक अनुभूति और निरीक्षण-शक्ति का परिचय दिया है। कामदशाओं में से स्मरण, चिंता आदि के वर्णन के अतिरिक्त व्याधि पर ही उनकी विशेष दृष्टि रही है। केवल व्याधि पर अधिक दृष्टि रखने के कारण ही विरह-ताप, क्षीणता आदि के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन में ही वे लगे रहे। यह परंपरा की खूबी थी! जहाँ उन्हें परंपरा के भीतर ही उन्मुक्त क्षेत्र मिला उन्होंने अपनी काव्य-मर्मज्ञता का अच्छा परिचय दिया। भद्दी परंपरा के फेर में हिंदी के कितने ही कवियों का सच्चा और उत्कृष्ट रूप निखरने नहीं पाया। उन्हीं में से एक बिहारी भी थे। भूषण ने वीर रस की कविता लिखी, पर रीति-ग्रंथ की परंपरा में फँसकर अलंकार के पिटारे सजाने के कारण उनके वीर रस की व्यंजना दब-सी गई है। पर अलंकारों के शिकंजे से उन्मुक्त जहाँ उन्होंने स्वच्छंद रचना की है वहाँ अपनी वीरोन्मेषशालिनी प्रकृति और सामर्थ्य का पूर्ण परिचय दिया है। यह बात 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक की रचना के साथ 'शिवराज-भूषण' की रचना मिलाने से साफ जान पड़ती है। इसी प्रकार बिहारी भी परंपरा के चक्र में जहाँ पड़ जाते हैं उनकी काव्यानुभूति दब-सी जाती है। उन्होंने कोई लक्षण-ग्रंथ अवश्य नहीं लिखा, पर उनकी रचना है उसी लकीर को पीटनेवाली। पर जहाँ वे परंपरा से अलग या परंपरा के भीतर ही उन्मुक्त क्षेत्र पाते हैं वहाँ अपनी उदार हृदय-वृत्ति का परिचय भी बराबर देते हैं। बिहारी का यह दुरंगा रूप उनकी कविता भर में पाया जाता है।

भक्ति-भावना

भगवान् या उनकी भक्ति के संबंध में रचना करनेवाले कवि दो प्रकार के पाए जाते हैं। एक प्रकार के रचयिता तो वे हैं जो संसार के जंजाल से अलग होकर वैराग्य धारण करके भगवान् की शरण लेते हैं और दूसरे वे हैं जो वस्तुतः कवि होते हैं और समय-समय पर भक्ति के उद्‌गार उनकी रचना में प्रकट हो जाते हैं। मुक्तक-रचना करनेवाले कवियों के तो ये ही दो प्रकार दिखाई पड़ते हैं। पहले प्रकार के कवि भक्त या विरागी कवि कहे जा सकते हैं और दूसरे प्रकार के संसारी। भक्त कवियों की वाणी में किसी विशेष संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रतिपादन भी पाया जा सकता है, पर संसारी कवियों की रचना में जो उद्‌गार मिलते हैं उनमें किसी प्रकार का मतवाद ढूँढ़ना अपने को भ्रम में डालना है। कहना यह चाहिए कि हिंदी में भक्ति का उपदेश देनेवाले भी कोई विशेष मतवाद लेकर नहीं चलते थे। सूर और तुलसी में किसी विशेष मत का प्रतिपादन नहीं मिलता। ये भक्त अपनी वाणी के द्वारा भगवान् की लीला का वर्णन करके लोगों के हृदय को प्रफुल्लित करना चाहते थे, उनके मानस को सरस बनाए रखना चाहते थे। मतवाद से ये लोग दूर ही रहा करते थे। दार्शनिक मतवादों में जिन सिद्धांतों या ज्ञान का निरूपण होता है वह बुद्धि से संबंध रखता है, पर भक्ति का क्षेत्र हृदय है। इसलिए ये भक्त कवि ज्ञान के क्षेत्र का निरूपण करने नहीं गए। कविता और भक्ति दोनों का घनिष्ठ संबंध हृदय से है, इसलिए इन भक्त कवियों की कविता अधिक लोगों के हृदय का रंजन कर सकने में समर्थ हुई। ऐसे भक्त ज्ञानमार्ग का विरोध नहीं करते थे, वे उसे भी ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग मानते थे पर उस मार्ग को कठिन बतलाते थे। तुलसीदासजी ने बराबर कहा है कि वह मार्ग खरा है, पर उसपर चलना कठिन है, भक्ति का मार्ग सरल है—

करम, उपासन, ज्ञान वेदमत सो सब भाँति खरो।

मोहिं तो सावन के अंधहिं ज्यों सूझत रंग हरो॥—विनयपत्रिका, २२६।

इतना होने पर भी तुलसीदास की रचना में से फुटकर कथनों को नोच-नोचकर कुछ लोग उन्हें अद्वैतवादी कहते हैं तो कुछ लोग विशिष्टाद्वैतवादी। कुछ लोग उन्हें शाक्त कहते हैं तो कुछ लोग वैष्णव। तुलसीदास की तो बात ही जाने दीजिए, कुछ लोग बिहारी का एक ही दोहा सामने रखकर उन्हें अद्वैतवादी कहने लगते हैं। उन लोगों को जानना चाहिए कि बिहारी ऐसे कवि सब प्रकार की रचना करनेवालों में से हैं। जिस समय जिस प्रकार की उक्ति सूझ गई वैसी ही रचना कर दी। किसी विशेष सिद्धांत को लेकर कुछ कहना इन लोगों की मुक्तक-रचना-पद्धति के विरुद्ध था।

यही नहीं अपने को सब प्रकार के मतवाद से अलग करने के विचार से ही बिहारी इस प्रकार की बात भी कह देते हैं—

अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।

ज्यों ज्यों सबकौं सेइबौ एकै नंदकिसोरु॥—५८१।

फिर भी उन्हें किसी मतवाद में फँसा मानना कहाँ तक उचित है सहृदय ही समझें!

निर्गुण और सगुण का भेद भी बिहारी में नहीं किया जा सकता। रामभक्ति और कृष्णभक्ति का भेद भी ढूँढना ठीक नहीं। इस प्रकार के कवि सामान्य रूप से ही सब प्रकार की उक्तियाँ कहते थे। निर्गुण की व्यापकता को प्रदर्शित करने के लिए बिहारी इस प्रकार की उक्तियाँ कहते हैं—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-बिस्तारन-काल।

प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग भूपाल॥—४२८।

बिहारी निर्गुण ही के संबंध में अपनी उक्तियाँ नहीं लिखते रहे, उन्होंने अपने को सगुण के गुणों में भी बाँधने की बात कही है—

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।

जौ बाँधैंही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु॥—२६१।

(मथुरा का निवासी समझकर या श्रृंगार रस की कविता लिखनेवाला मानकर इन्हें कृष्णोपासक कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वे लिखते हैं—

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा बिपति-बिदारनहार॥—६१।
ब्रजबासिन कौ उचित धनु जो धन रुचित न कोइ।
सुचित न आयौ; सुचितई, कहौ कहाँ तैं होइ॥—५६१।

इसी प्रकार भगवान् राम के संबंध में भी कहते हैं—

यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि॥—४०१।
बंधु भए का दीन के, को तार्‍यो रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ॥—६१।

वास्तविक बात यह थी कि राम और कृष्ण में ये लोग कोई भेद नहीं समझते थे। भगवान् की एक सामान्य भावना लेकर ही अपनी उक्तियाँ गढ़ा करते थे। यही कारण है कि राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे। सूर और तुलसी ने भी ऐसा किया है। उनके बाद तो जितने कवि हुए उन्होंने बिना किसी भेदभाव के ही उन लीलाओं को ग्रहण किया। बिहारी भी कहते हैं—

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखबी मुरारि।
बीधे मोसौं आइकै, गीधे गीधहिं तारि॥—३१।

'गीध' को तारनेवाले राम थे, मुरारि नहीं।

इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान देने योग्य है। भक्ति की रचना करते समय कवि अपने को पापी, कुकर्मी और पतित कहा करते हैं। सूरदास और तुलसी ने भी अपने को 'पतितों का टीका' कहा है। ऐसी ऐसी उक्तियों को लेकर कुछ लोग बिहारी को भारी पापी, शोहदा, अनाचारी आदि समझते और लिख देते हैं। भक्ति की भूमिका में अपने को दीन, पापी आदि कहने का जो विधान है उसकी ओर दृष्टि न

रखकर जो लोग ऐसी हिमाकत करते हैं उनकी समझ को क्या कहा जाय। बिहारी तो बिहारी, सूर और तुलसी को भी यही कहना पड़ेगा। पर क्या यह बात घोर साहित्यिक अपराध नहीं है। भगवान् की भक्ति के लिए अपने आचरणों का यह व्याख्यान क्या कवि को पातकी सिद्ध करता है—

कीजै चित सोई तरे, जिहिं पतितन के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गनन, गनौ न गोपीनाथ॥—२२१।
ज्यौं ह्वैहौं त्यौं होउँगो हौं, हरि, अपनी चाल।
हठु न करौ अति कठिनु है, मो तारिबो गुपाल॥—७०१।
तौ, बलियै, भलियै बनी नागर नंदकिसोर।
जौ तुम नीकैं कै लख्यौ मो करनी की ओर॥—६२१।

बिहारी भक्त तो थे नहीं, वे कवि थे, इसलिए उनके भक्ति के उद्गार कवित्व के रूप में ही हैं। ऊपर जितनी उक्तियाँ उद्धृत की गई हैं वे वाग्वैदग्ध्य से पूर्ण हैं, उनमें बाँकपन भी बराबर मिलता है। देखिए इस दोहे में कैसा बाँकपन है—

करौ कुबत जगु कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल॥—४२५।

इसी प्रकार की वक्रोक्ति या वचनभंगी की कुंतल ने बड़ी प्रशंसा की है। ऐसी उक्ति को लेकर अगर कोई कवि को अनाचारी कहने को उतारू हो जाय तो उसके दिमाग की दवा ही क्या!

(कवि होने ही के कारण बिहारी ने बराबर भक्ति-संप्रदाय का दैन्य ही नहीं दिखलाया है, 'उपालंभ' आदि की उक्तियाँ भी उसी चाव से बाँधी हैं, ईश्वर के विरुद और अपने पातित्य की होड़ भी लगाई है, कुटिलता न तजने की बात तो ऊपर आ ही चुकी है—

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु, बारक बारन, तारि॥—११।
थोरैंही गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनौ भए आज कालिह के दानि॥—६८।

कब कौ टेरतु दीन रट होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु जगनाइक जग-बाइ ॥—७१।
मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज।
अपनैं अपनैं बिरद की दुहूँ निबाहन लाज ॥—४२७।

कहीं-कहीं बिहारी ने प्रसिद्ध दार्शनिक दृष्टांतों का भी इस प्रकार की कविता में प्रयोग किया है, पर कुछ हेरफेर के साथ। जैसे यह दृष्टांत—

मैं समुझ्यौ निरधार यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ ॥—१८१।

दार्शनिक लोग अधिकतर घट और सूर्य-प्रतिबिंब का दृष्टांत देते हैं।

बिहारी की कोई कोई उक्ति बाबा लोगों की उक्ति से ठीक ठीक मिल जाती है। जैसे यह उक्ति—

या भव-पारावार कौं उलँघि पार को जाइ।
तिय-छबि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहीं आइ ॥—४३३।

भगवान् की भक्ति के लिए हृदय में सच्चा भाव होना चाहिए, इसको बिहारी भी स्वीकार करते हैं। कपट को बिना त्यागे भगवान् का सच्चा भजन नहीं हो सकता। इसीलिए वे कहते हैं—

जपमाला छापैं तिलक सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राचै रामु ॥—१४१।
तौ लगु या मन-सदन मैं हरि आवैं किहिं बाट।
बिकट जटे जौ लगु निपट खुटैं न कपट-कपाट ॥—३६१।

वे कबीर आदि भक्तों की भाँति कहते हैं कि सुख और दुःख दोनों में भगवान् का ध्यान रखना चाहिए। दुःख पड़ने पर 'हाय दैया' करने की आवश्यकता नहीं, ईश्वर ने विपत्ति दी है तो उसे उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए जिस प्रकार सुख को ग्रहण किया—

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईंहि न भूलि।
दई दई क्यौं करतु है, दई दई सु कबूलि ॥—५१।

शुद्ध भक्त की भाँति उनकी भी भगवान् से यही प्रार्थना है कि—

हरि, कीजति बिनती यहै तुमसौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार॥—२४१।

ऊपर बिहारी की भक्ति-संबंधी रचना का जो विश्लेषण किया गया है उससे स्पष्ट है कि इनकी कविता में सब प्रकार की भावनाएँ मिलती हैं। जिस अवसर पर जो बात सूझी उस अवसर पर उसीको अपनी उक्ति में बाँध दिया। भक्ति की जो सामान्य भावना आगे के कवियों में दिखाई पड़ती है, बिहारी की कविता उसका पूर्व आभास देती है। तुलसी आदि के प्रयत्न से सांप्रदायिकता का बाँध टूट जाने से भक्ति की रचना को जो विस्तार प्राप्त हुआ वह बिहारी में भी मौजूद है और आगे के कवियों में भी मिलता है। बिहारी की यह कविता भी अपनी विशेषता बराबर लिए हुए है। उनकी वाणी का बाँकपन भक्ति-संबंधी इन उद्‌गारों में भी बराबर मिलता है। सूखी भक्ति की उक्तियाँ बिहारी ने नहीं लिखी हैं, वे उनके कवित्व से बराबर सरस होकर सामने आई हैं।

भाव-व्यंजना

भाव व्यंग्य होते हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। व्यंग्य होने का तात्पर्य यही होता है कि भावों का नाम लेने से उनकी अनुभूति नहीं होती, उनकी अनुभूति उत्पन्न करने के लिए ऐसी सामग्री एकत्र करनी होती है जिससे बिना नाम लिए ही उनकी अनुभूति हो सके। बिना सामग्री के जब किसी भाव का नाम ले लिया जाता है तो स्वशब्दवाच्यत्व दोष माना जाता है। काव्यशास्त्रियों के अनुसार तो भावों का नाम लेना ही नहीं चाहिए, अनुभावों के द्वारा उनकी व्यंजना करनी चाहिए। पीछे अनुभाव-विधानवाले प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि बिहारी का यह विधान कितना सच्चा है। यहाँ पर भाव-व्यंजना के संबंध में कुछ और बातों पर विचार करना है।

स्थायित्व और अस्थायित्व के विचार से रीतिकारों ने भावों के दो विभाग किए हैं, एक प्रकार के भाव स्थायीभाव कहे जाते हैं और दूसरे प्रकार के भाव अस्थायी या संचारी। स्थायीभाव वे हैं जो किसी दूसरे प्रकार के भाव के कारण विकार को प्राप्त नहीं होते, पर संचारी भाव थोड़ी देर के लिए ही आते हैं और स्थायी भावों की सहायता करके चले जाते हैं। इसीलिए संचारी भाव सहकारी भाव भी कहे जाते हैं, वे स्थायीभावों के सहायक या सहकारी होते हैं। जिस प्रकार स्थायीभाव व्यंग्य होते हैं उसी प्रकार संचारी भाव भी। उनकी भी व्यंजना करनी होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बिहारी ने दोनों प्रकार के भावों की व्यंजना की है, उन्हें वाच्य नहीं रखा है। बिहारी में मुख्य रूप में शृंगार ही है इसलिए रति स्थायीभाव के ही अनेक उदाहरण मिलेंगे। बिहारी ने किसी किसी दोहे में रसाभ्यासियों के अनुसार रस के चारों वयव बड़े सुंदर ढंग से जुटा दिए हैं। पर स्मरण रखना चाहिए कि रस-व्यंजना में यह आवश्यक नहीं होता कि सभी अवयवों का कथन

किया ही जाय। जिन अंगों का कथन नहीं होता उनका स्वभावतः आक्षेप कर लिया जाता है। इतना ही नहीं, कुछ रस ऐसे भी होते हैं जिनकी व्यंजना के लिए केवल आलंबन का ही यथावत् वर्णन कर देना पर्याप्त होता है। हास्यरस में हास के आलंबन का ही वर्णन पर्याप्त होगा। इसी प्रकार यदि शृंगार-रस में केवल आलंबन का ही वर्णन हो तो भी रस-व्यंजना मान ली जायगी। शृंगार-रस के आलंबन नायक-नायिका के शिख-नख का वर्णन इसीलिए इसके भीतर ही माना जाता है।

शृंगार के अतिरिक्त बिहारी में और रसों के भी दो-एक दोहे मिलते हैं। जैसे मिर्जा राजा जयशाह की प्रशंसा के कुछ दोहे वीर-रस के अंतर्गत माने जा सकते हैं, यद्यपि उनमें रस की पूरी सामग्री नहीं है, उन्हें भावदशा तक ही मानना चाहिए। दो-एक दोहे हास्य-रस के भी हैं, यद्यपि हास्य उत्तम कोटि का नहीं कहा जा सकता। जैसे इन दोहों में—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैदबधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि ॥—४७९।

इस दोहे में प्रश्न यही उठ सकता है कि हास का आलंबन क्या है। यहाँ वैद्यजी हास के सीधे आलंबन नहीं हैं, हास का सीधा आलंबन उनकी झूठी प्रशंसा है। चारो अवयव भी ढूँढ़े जा सकते हैं। वधू का हँसना, पति का मुँह ताकने लगना अनुभाव हैं। स्मृति संचारी भाव है।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

चित पित-मारक-जोगु गनि, भयौ, भयैं सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारज-जोगु ॥—५७५।

यहाँ भी 'ज्योतिषी' जी हास्य के आलंबन हैं। क्योंकि 'जारज-योग' से प्रसन्न होना भी उनकी अज्ञता ही है। केवल आलंबन का ही, उसकी मूर्खता का ही निरूपण हास्य-रस की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त होता है। यहाँ आश्रय, अनुभाव आदि का ब्यौरा नहीं है, पर हास उत्पन्न करने में यह रचना समर्थ है।

कहीं कहीं इसी प्रकार का हास शृंगार का संचारी बनकर भी आया है, जैसे इस दोहे में—

परतिय-दोषु पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्र हूँ, मुँह-आई मुसकानि ॥—२६४।

यहाँ पर हास्यरस न मान कर हास भाव ही मानना चाहिए, क्योंकि हास का किंचित् वर्णन है और साथ ही वह रति भाव में संचारी का काम कर रहा है, इसलिए स्वतंत्र हास भी नहीं कहा जा सकता।

इस पचड़े को यहीं छोड़कर कुछ अन्य प्रकार की भाव-व्यंजनाओं के उदाहरण देखने चाहिएँ। संचारी भावों की संख्या यों तो बहुत हो सकती है, पर मोटे रूप में ३३ संचारियों की गणना की गई है। अन्य संचारी भावों का इन्हीं में से कुछ में अंतर्भाव कर दिया गया है।

'छल' नाम का एक स्वतंत्र संचारी भाव रसतरंगिणीकार ने माना है, यह वही 'छल' है जिसे हिंदी में पहले-पहल 'देव' के ग्रंथ में देखकर कुछ लोग चौंक पड़े थे और दूसरों को उसी 'छल' के अस्त्र से धमका रहे थे। संचारी भाव बहुत हो सकते हैं, नये-नये संचारी भी आ सकते हैं, 'छल' ही क्या है! पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने तुलसी के इस दोहे में 'चकपकाहट' नाम का नया संचारी दिखाया है—

बाँधे बननिधि ? नीरनिधि ? जलधि ? सिंधु ? बारीस ?
सत्य तोयनिधि ? कंपती ? उदधि ? पयोधि ? नदीस ?—रामचरितमानस।

इसमें और लोग आवेग संचारी मानते हैं। पर ध्यान देने से आवेग से और इससे थोड़ा अंतर दिखाई पड़ेगा। आवेग में जो घबड़ाहट होती है वह किसी कार्य की पूर्ति शीघ्र से शीघ्र हो जाने की तत्परता की ओर उन्मुख रहती है, क्योंकि जहाँ अनिष्ट से आवेग होता है वहाँ त्रास भी रहता है। इसे आवेग इसीलिए कहा जाता है कि किसी आशंका से किसी कार्य की पूर्ति शीघ्र करने के लिए यह प्रवृत्त करता है, और तेजी से प्रवृत्त करता है। उक्त दोहे में ऐसी बात नहीं है। रावण घबड़ाकर यह नहीं कहता कि खड्ग लाओ, धनुष लाओ; या भागो, शीघ्रता करो। वह राम द्वारा समुद्र के बँध जाने पर केवल आश्चर्य करके रह जाता है। आवेग में संभ्रम होता अवश्य है, पर वह शुद्ध नहीं होता; उसमें और क्रियाएँ भी अपेक्षित हैं। पर यहाँ शुद्ध चकपकाहट ही है। हाँ, यदि

संचारियों की संख्या बढ़ाना इष्ट न हो तो चकपकाहट को आवेग के भीतर ही रख सकते हैं।

संचारी भावों में एक बात और ध्यान देने की है। रीतिकारों ने जिन संचारियों की गणना कराई है वे सभी भाव नहीं है, अर्थात् वे सभी हृदय की वृत्तियाँ नहीं हैं, कुछ तो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, जैसे तर्क आदि और कुछ शरीर के धर्म हैं, जैसे निद्रा, स्वप्न, श्रम आदि। इसलिए संचारी भाव की शास्त्रीय परिभाषा यह होगी कि जो भाव, वृत्तियाँ—चाहे वह हृदय की हों, चाहे बुद्धि की और चाहे शरीर की—स्थायीभावों की सहायता करें वे ही संचारी भाव हैं। संचारी भाव की इस परिभाषा के अनुसार यह बात भी ध्यान में रखने की है कि स्वतंत्र रूप से यदि किसी भाव की व्यंजना है और वह हृदय में अनुभूति उत्पन्न करता है तभी वह संचारी भाव कहा जायगा। यदि वह भाव अनुभूति उत्पन्न करने में सहायक नहीं है तो संचारी नहीं कहला सकता। तात्पर्य यह है कि संचारियों में जो हृदय की वृत्तियाँ हैं वे स्वतंत्र रूप में भी आ सकती हैं और अनुभूति उत्पन्न कर सकती हैं, पर जो शरीर के धर्म हैं और बुद्धि के व्यापार हैं यदि वे केवल स्वतंत्र रूप में आवें तो न तो किसी प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करेंगे और न संचारी कहलाने के अधिकारी होंगे। जैसे यदि किसी ने व्यायाम किया है और उसके शरीर से पसीने की बूँदे निकल रही हैं, वह थक गया है तो वहाँ श्रम संचारी नहीं माना जा सकता। पर यदि किसी वीर ने अपने हथियारों का कौशल रण में दिखाया है, वहाँ वह विश्राम कर रहा है, उसके मुख पर या शरीर पर पसीने की बूँदें हैं, वह श्रांत है तो वहाँ श्रम संचारी माना जायगा।

बिहारी के दोहों में अधिकांश संचारी भाव मिल सकते हैं। पर सबके उदाहरण देना संभव नहीं, किसी लक्षण की पुस्तक के लिए ही उन सब उदाहरणों का जुटाना उपयुक्त हो सकता है। इसलिए संचारी भावों पर और प्रकार से विचार करना चाहिए। बिहारी ने अपने दोहों में रूपवर्णन अधिक किया है। यह रूपवर्णन कहीं तो हर्ष संचारी के रूप में है और कहीं स्मरण संचारी के रूप में। इस प्रकार के सीधे रूपवर्णन

हमारे विचार से, जहाँ सखी आदि का उल्लेख नहीं है, नायक की ही उक्ति माने जायँगे और नायक की उक्ति मानने पर वे या तो हर्ष संचारी के रूप में आवेंगे या स्मरण संचारी के रूप में। यदि नायिका सामने होगी तो हर्ष संचारी और यदि नायक का कोरा कथन होगा तो स्मरण संचारी। ऐसे दोहों में सब जगह सखी की उक्ति मानना ठीक नहीं। जैसे यह दोहा—

> झीनैं पट मैं झुलमुली, झलकति ओप अपार।
> सुरतरु की मनु सिंधु मैं लसत सपल्लव डार॥—१६।

इसे सखी की उक्ति न मानकर नायक की उक्ति मानना ही समीचीन और उपयुक्त जान पड़ता है। वर्णन के ढंग और क्रिया से नायिका सामने प्रस्तुत मानी जायगी, इससे यहाँ हर्ष संचारी ही होगा।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

> सालति है नटसाल सी, क्यौं हूँ निकसति नाँहि।
> मनमथ-नेजा-नोक सी खुभी खुभी जिय माँहि॥—६।

इस दोहे में नायक नायिका की खुभी का स्मरण करता हुआ माना जायगा। सीधे नायिका के प्रति नायक की उक्ति मानना ठीक नहीं जँचता। हाँ, नायिका की सखी या दूती के प्रति नायक का कथन माना जा सकता है।

संचारियों को यहीं छोड़कर भावों के और स्वरूपों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। भावोदय, भावसंधि, भावशांति, भावशबलता आदि के उदाहरण भी बिहारी में बड़े उत्तम मिलते हैं; विशेषतया भावसंधि और भावशबलता के। भावसंधि का उदाहरण लीजिए—

> करे चाह सौं चुटकि कै खरैं उड़ौंहैं मैन।
> लाज नवाएँ तरफत, करत खूँद-सी नैन॥—५४२।

इस दोहे में चाह (उत्सुकता) और लाज (व्रीड़ा) इन दो भावों की संधि है। इस दोहे में भाव-संधि के अतिरिक्त और भी एक खूबी है। इसमें रूपक अलंकार व्यंग्य है। यह उदाहरण इतना साफ है कि रीतिकारों के ग्रंथ में भी ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं।

भावशबलता का एक उदाहरण लीजिए—

> कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।
> भरे भौन मैं करत हैं, नैननु हीं सब बात ॥—३२ ।

यहाँ एक साथ कई प्रकार के भाव उठ रहे हैं इसलिए भावशबलता है। इसमें विशेषता यही है कि दोनों पक्षों (नायक एवं नायिका) में भावशबलता है।

भावोदय और भावशांति दोनों वस्तुतः एक ही स्थान पर होते हैं, क्योंकि बिना किसी भाव के शांत हुए किसी भाव का उदय नहीं होता और भावशांति के अनंतर भी किसी न किसी भाव का उदय होता ही है। वस्तुतः इन दोनों को रीतिशास्त्र के अनुसार अलग-अलग दिखाना मात्र उद्देश्य था। इसीलिए दोनों में भेद यह किया गया है कि जहाँ भाव के उदय में अधिक चमत्कार हो वहाँ भावोदय और जहाँ भाव की शांति में अधिक चमत्कार हो वहाँ भावशांति होती है। पर कितने ही आचार्य इस बात को नहीं मानते। बिहारी का एक उदाहरण देखिए—

> बिथुर्यौ जावकु सौति-पग निरखि हँसी गहि गाँसु ।
> सजल हँसौंहीं लखि लियो आधी हँसी उसाँसु ॥—५०७ ।

यहाँ असूया भाव की शांति और विषाद का उदय है। यदि चमत्कार की दृष्टि से मानें तो यहाँ विषाद में अधिक चमत्कार होने से भावोदय मानना पड़ेगा। ऊपर ज्योतिषीवाला जो उदाहरण दिया गया है उसमें भी शोक की शांति और हर्ष का उदय है।

बिहारी की कविता में भावसंधि और भावशबलता के बहुत से उदाहरण मिलेंगे और वे बहुत स्पष्ट मिलेंगे। भावोदय आदि के इन उदाहरणों में भी रस ही मानना पड़ेगा। स्मरण रखना चाहिए कि किसी भाव या भावसंधि आदि की अनुभूति भी रसरूप ही मानी जायगी। हाँ, किसी भाव का रसदशा तक पहुँचाना भले ही न मानें, उसे भावदशा तक ही रखें, पर अनुभूति सबकी रस रूप ही होगी। यही नहीं भावभास और रसाभास की अनुभूति भी रसरूप ही मानी जायगी। यह बात दूसरी है कि उनका आस्वाद वैसा उत्तम नहीं माना जा सकता।

भाव-व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी में अलंकार-व्यंजना और वस्तु-व्यंजना के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं। वस्तु-व्यंजना में विरह की उक्तियाँ, सुकुमारता आदि की उक्तियाँ आती हैं। इनका उल्लेख पिछले अध्यायों में थोड़ा-बहुत हो चुका है, इसलिए उनकी पुनरुक्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि बिहारी में वस्तु-व्यंजना अधिकतर रूढ़ि के सहारे पर ही की गई है और जहाँ उसमें ऊहा अधिक है वहाँ वह खेलवाड़ के रूप में ही है। पर भाव-व्यंजना के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। भाव की व्यंजना अपनी प्रकृत पद्धति पर चलती है और उसमें रस-मग्न करने की क्षमता अधिक है।

वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य

किसी कवि में वाग्वैदग्ध्य की जितनी अधिक शक्ति होगी, वह अपने कवित्व का निर्वाह उतना ही अधिक कर सकेगा। वाग्वैदग्ध्य से तात्पर्य है वाणी की अभिव्यंजन-शक्ति से। जिनका भाषा पर अच्छा अधिकार होगा, जो यह जानते होंगे कि किसी शब्द में विभिन्न प्रकार के भावों को व्यक्त करने की शक्ति कहाँ तक है, जो अपने यहाँ की काव्यशैली से पूर्णतया परिचित होंगे, जिन्होंने संसार में नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किए होंगे, जिनके हृदय में अनुभूति के लिए पूरी जगह होगी, जो किसी रचना के भीतर शब्दों को बैठाने की कारीगरी जानते होंगे, जो कथन के बाँकपन से भली भाँति परिचित होंगे वे ही वाग्वैदग्ध्य में निपुण हो सकते हैं, वे ही अपनी वाणी में वह करामात दिखा सकते हैं जिसपर सहृदय लोट-पोट होते हैं, जिस कारीगरी के कारण उनकी रचना बारंबार पढ़ी जाती है, जिस चमत्कार के कारण लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि 'इसे फिर से सुनाइए'। यदि श्रोता न होकर वे पाठक होते हैं तो पढ़ते हुए स्वयं ही उसमें मग्न होने लगते हैं। यद्यपि यह बात सही है कि भाव की ही उत्तमता कविता में प्रधान होती है, पर भाव की उत्तमता के साथ-साथ यह भी आवश्यक होता है कि उसको व्यक्त करने की शैली भी उतनी ही उत्तम हो। यदि वैसी शैली नहीं होगी तो भाव उत्तम से उत्तम होकर भी पाठक या श्रोता के हृदय में भाव की तद्रूप अनुभूति उत्पन्न करने में समर्थ न हो सकेगा और काव्य का उद्देश्य पूर्ण न होगा। इसलिए वही कवि समर्थ कवि कहा जा सकता है जिसमें भाव के साथ-साथ उसको व्यक्त करने की, उसकी अनुभूति पाठक के हृदय में उत्पन्न करने की क्षमता भी हो। दूसरे शब्दों में कहना हो तो कहिए कि जिसमें हृदय-पक्ष के साथ-साथ कला-पक्ष भी वैसा ही हो। जहाँ कला-पक्ष प्रधान हो जायगा वहाँ काव्य को क्षति पहुँच सकती है या पहुँचती है, पर केवल हृदय-पक्ष रहने पर या कला-पक्ष का बिल्कुल संयोग न होने

पर भी कविता उतनी हृदयग्राही नहीं हो सकती। केशव में कला-पक्ष की प्रधानता थी और उसमें भी भद्दी कला को ही उन्होंने ग्रहण किया, इसलिए वे 'कठिन काव्य के प्रेत' कहे जाने लगे। जायसी में हृदय-पक्ष की प्रधानता रही, पर कला-पक्ष उतना नहीं रहा जितना होना चाहिए, फिर भी प्रबंध-काव्य होने से उनमें कला-पक्ष की कमी उतनी घातक नहीं हुई। पर मुक्तक-रचना में दोनों पक्षों की समता अपेक्षित होती है। चाहे महफिली कविता में लोग कला-पक्ष को ही प्रधान रखते रहे हों और उसके कारण इन्होंने 'वाहवाही' भी लूटी हो, पर मुक्तक-रचना का प्रकृत रूप वही होगा जिसमें हृदय-पक्ष और कला-पक्ष सम हो।

कहने की आवश्यकता नहीं कि बिहारी में दोनों बराबर हैं। यही कारण है कि उनकी कविता का प्रचार दोनों प्रकार की रुचिवालों के बीच रहा है और रहेगा। बिहारी में कला-पक्ष के भीतर वाग्वैदग्ध्य बहुत सच्चा पाया जाता है, इसलिए उनकी कविता लोगों को मस्त कर देती है। जिस मस्तानी शैली से बिहारी ने अपने दोहों की रचना की है वह शैली हिंदी में मुक्तक-रचना करनेवाले कवियों में से बहुत कम को प्राप्त हो सकी है। यही वाग्वैदग्ध्य बिहारी की कविता का प्रसार करने में सहायक हुआ है और यही कारण है कि सभी युगों में लोग उनकी सतसई की नवीन ढंग से टीका करने के अभिलाषी बने रहे। इस युग की भी तीन टीकाएँ, जो अपने-अपने ढंग की अनोखी हैं, प्रसिद्ध ही हैं। संजीवन भाष्य में पंडित पद्मसिंह शर्मा ने एक-एक शब्द की खूबी समझाने का प्रयत्न किया है—एक-एक पद की शक्ति, उसका औचित्य, अन्य शब्दों के सहचर्य में उसका चमत्कार—उन्होंने सब कुछ दिखाया है, खेद है कि वह पूरा निकल न सका। बिहारी-रत्नाकर में एक-एक शब्द के रूप पर व्याकरण की दृष्टि से, उसके अर्थ-व्यक्त करने की दृष्टि से ध्यान रखा गया है। बिहारी-बोधिनी में अलंकारों और प्रसंग-कल्पना पर दृष्टि रखी गई है।

इस झगड़े को यहीं छोड़कर बिहारी की रचना में से कुछ उदाहरण देखने चाहिएँ। उनके वाग्वैदग्ध्य में क्या विशेषता है, यह भी ध्यान में

रखने की बात है। पहले ही कहा जा चुका है कि बिहारी के प्रत्येक दोहे का एक स्वतंत्र लक्ष्य है—कहीं किसी भाव को व्यक्त करना, कहीं किसी मुद्रा का निरूपण, कहीं किसी अलंकार की छटा दिखाना, कहीं किसी वस्तु की व्यंजना, कहीं किसी तथ्य का कथन, या कहीं किसी दशा का वर्णन आदि। किसी मुक्तक-रचना के लिए कोई न कोई स्पष्ट लक्ष्य होना ही चाहिए। यह हम बिहारी में बराबर पाते हैं, यह नहीं कि किसी समस्या को लेकर छंद की चार टाँगें जोड़ दीं। हिंदी में कवित्त-सवैया लिखनेवाले कितने ही कवि बिहारी के बाद ऐसे दिखाई पड़ते हैं जो छंद का चौथा चरण तो बढ़िया बना लिया करते थे या कोई प्रसिद्ध समस्या ले लेते थे और शेष तीन टाँगें उसमें जोड़कर अपना घोड़ा कुदाने लगते थे। कुछ कवि बड़े-बड़े हौसले पहले चरण से ही दिखा चलते थे पर आगे चलकर टाँगें लड़खड़ा जाती थीं, वे चारों खाने चित्त गिर पड़ते थे। पर बिहारी में ऐसी बात नहीं है। उन्होंने अपने दोहों को ऐसा कसा है कि उसमें कहीं से भी शिथिलता नहीं दिखाई देती। यह कसावट शब्दों के रूप और वाक्यों की ही नहीं, अर्थ की भी है—वाग्वैदग्ध्य के कारण भी उसमें कसावट है। क्योंकि वाणी का चमत्कार दिखलानेवाले को शब्द समझकर रखने पड़ेंगे, वाक्य में शब्दों के स्थान का निश्चय बहुत ध्यान के साथ करना पड़ेगा। यहाँ तक कि प्रत्यय और विभक्तियों पर भी ध्यान रखना पड़ेगा। चारों ओर दृष्टि रखकर सावधानी के साथ ही वे कुछ कह सकते हैं, इसी लिए उनकी रचना नपी-तुली शब्दावली लेकर चलती है। यदि कहीं छंद का साँचा भी छोटा हुआ तो फिर कहना ही क्या! देखिए बिहारी का वाग्वैदग्ध्य कैसे अर्थद्योतन और रचना की कसावट का काम एक साथ करता है। पहला ही दोहा ले लीजिए—

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥—१।

इस दोहे में 'स्यामु' और 'हरित-द्युति' शब्द अपना अलग-अलग अर्थ लेकर किस प्रकार कवि की कारीगरी की सूचना दे रहे हैं। 'हरित-

द्युति' शब्द तो बिहारी ने स्वयं गढ़ा है। एक ओर 'हरी चमक' (प्रफुल्लता) है तो दूसरी ओर 'हृत-द्युति' (चमक या रंग का बदल जाना)। यहाँ पर पूरा भाष्य करने की जगह नहीं, बिहारी के आधुनिक टीकाकारों ने इसपर काफी माथा लड़ाया है, यद्यपि कहीं-कहीं कई अर्थ निकालने की धुन में 'व्यासङ्ग' अर्थ कर डाले गए हैं। फिर भी चमत्कार का पूरा बिस्तार देखने के लिए उन्हीं लोगों की शरण लेनी चाहिए।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृषा बुझाइ॥—४१७।

रूप का पान करते हुए नेत्रों की प्यास नहीं बुझती, जितना ही अघाकर पीते हैं उतना ही और प्यासे हो जाते हैं। विरोध की तो बात ही अलग है, 'सलोने' शब्द में जैसा चमत्कार कवि ने रखा है वह मनोहर है। नमकीन चीज खाने पर प्यास लगती है, रूप भी स + लोना (लवण = नमक) है। इस साधारण दोहे में एक ही शब्द रखकर बिहारी ने अपना वाग्वैदग्ध्य दिखलाया है।

एक दोहे में बिहारी ने 'सूरन' के मुँह काटने की सामान्य बात लेकर उसका अच्छा निर्वाह किया है—

ललन सलोने अरु रहे अति सनेह सौं पागि।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि॥—२६३।

इस दोहे में सूरन की जो उपमा दी गई है उसका निर्वाह श्लिष्ट विशेषणों से बड़ी चतुरता के साथ किया गया है। सूरन कच्चा रहने पर मुँह काट लेता है। उसकी किनकिनाहट दूर करने के लिए नमक लगाकर उसका रस निकाल डालते हैं और उसे खूब तेल देकर भूजते हैं, फिर भी यदि भूजने में वह कच्चा रह गया तो मुँह में लग ही जाता है। इस दोहे में सूरन और नायक के लिए दोहरे अर्थवाले शब्द रखे गए हैं। सलोने, सनेह, कचाई और मुँह लागि के दो-दो अर्थ हैं। इस दोहे में अलंकार ही का चमत्कार माना जायगा, पर विशेषता यह है कि इसमें कोई भी श्लिष्ट शब्द ऐसा नहीं है जो खींच-तान से अर्थ का संकेत करता हो।

ऐसे चलते और चुने हुए शब्द लिए गए हैं जिनके दो-दो अर्थ बड़े मजे में गृहीत होते हैं, कष्ट कल्पना की कोई जरूरत नहीं। 'मुंह लगना' मुहावरा भी कैसा दोहरा अर्थ दे रहा है !

ऊपर दो-तीन उदाहरण बानगी के लिए दिए गए हैं। बिहारी के दोहों में शब्दों का चुनाव ऐसा ही है जिसमें शब्द कई और साथ ही व्यंजक अर्थ लेकर बैठे हुए हैं। बहुत थोड़े दोहे मिलेंगे जिनमें यह व्यंजकता और संकेत न हो। इसीसे बिहारी की काव्यचातुरी और बचन-भंगिमा की सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है।

अब उक्ति-वैचित्र्य की ओर आइए। उक्ति-वैचित्र्य का तात्पर्य दूर की कौड़ी लाने या आसमानी उड़ान से नहीं है। जो लोग उक्ति-वैचित्र्य का यही अर्थ लेते हों उन्हें बिहारी के विरह-वर्णन की ऊहात्मक उक्तियों की छानबीन करके अपना संतोष कर लेना चाहिए। उक्ति-वैचित्र्य से हमारा तात्पर्य किसी बात को स्पष्ट करने की युक्ति या किसी मुद्रा, रूप आदि को अपनी निरीक्षण-शक्ति से निरूपित करने की सामर्थ्य से है। उक्ति-वैचित्र्य को दिखाने की गुंजाइश पिछले प्रकरणों में भी थी, पर विषय जरा साफ करने के विचार से इसे अलग कर लिया गया है। किसी अवस्था को हृदयंगम कराने के लिए कभी-कभी बिहारी ऐसी बात लाते हैं जो बहुत मौजूँ और उपयुक्त होती है। जैसे किसी के लड़कपन और यौवन की संधि को व्यक्त करने के लिए किसी ऐसे उदाहरण की आवश्यकता पड़ेगी जो दुरुखा हो। किसी का लड़कपन एकदम हट जाय और सहसा यौवन आ धमके ऐसा तो होता नहीं, एक अवस्था ऐसी आती है जब दोनों की स्थिति बनी रहती है। इसे व्यक्त करने के लिए बिहारी ने धूपछाँह नाम के कपड़े का उदाहरण रखा है। इस कपड़े में दो रंग ऐसे मिले रहते हैं कि दोनों की स्थिति के संबंध में यह निश्चय नहीं हो पाता कि कहाँ से एक समाप्त हुआ और कहाँ से दूसरा आरंभ हो गया। दोनों मिलेजुले और पृथक्-पृथक् साथ ही जान पड़ते हैं—

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफ़ता-रंग ॥—७०।

शैशव और यौवन के लिए अलग-अलग उदाहरण देकर दोनों का वर्णन करना तो सरल है, पर दोनों के मेल का वर्णन कर सकना, उसके लिए ऐसा दृष्टांत देना जो उस अवस्था को हृदयंगम कराने में समर्थ हो कुछ कठिन बात है। पर बिहारी ने यहाँ दोनों की मिली-जुली झलक के लिए ऐसा दृष्टांत दिया है जो उस स्वरूप को व्यक्त करने में भली भाँति समर्थ है।

इसी प्रकार किसी का मन कभी-कभी किसी के सौंदर्य को देखते हुए उसमें इतना तल्लीन हो जाता है कि किसी तरह वहाँ से हटता ही नहीं। जैसे मन उसी रूप में समा गया हो। सौंदर्य में मन का समाना एक ऐसी क्रिया है जिसको समझाने के लिए सीधे शब्द समर्थ नहीं हो सकते, इसके लिए कोई उदाहरण अपेक्षित होता है। बिहारी ने इस तल्लीनता को हृदयंगम कराने के लिए पानी में घुले हुए नमक का दृष्टांत दिया है। नमक जब पानी में घुल जाता है तो चाहे उसको कितना ही छानिए, पानी में से नमक अलग नहीं किया जा सकता। मनमोहन के सौंदर्य में भी मन इसी प्रकार घुल मिल गया है, वहाँ से वह हटता ही नहीं—

कीनैं हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु।
भो मन मोहन-रूपु मिलि पानी मैं कौ लौनु॥—१८।

इसी प्रकार मुद्रा का निरूपण करने में भी बिहारी किसी मुख्य व्यापार को भूलते नहीं। प्रेमभरी दृष्टि से कटाक्ष करनेवाले किस अदा से प्रिय की ओर देखते हुए निकल जाया करते हैं, इसपर बिहारी की दृष्टि खूब जमी हुई थी। नायिका भौंह को ऊँचे करती हुई, आँचल को कंधों पर उलटती हुई, गर्दन को मटकाकर मुँह फेरती हुई, नेत्रों से नेत्र मिलाती हुई चली जा रही है—

भौंह ऊँचै, आँचरु उलटि, मौर मोरि मुँहु मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सों जोरि॥—२४२।

दोहे में 'मोरि' शब्द दो बार आया है, पर दोनों का अर्थ अलग है। पहले 'मोरि' शब्द का अर्थ है मटकाकर और दूसरे का अर्थ है

मोड़कर। ठिठकते हुए भीतर जाने की अदा के लिए बिहारी ने 'नीठि नीठि' का व्यवहार किया है, वह मानों बड़ी मुश्किल से भीतर जा रही हो। नायिका के हृदय में जिस प्रेमभाव का उदय हो रहा है उसकी एक एक चेष्टा क्रमशः व्यक्त होती चलती है, सम्मिलित रूप में उस अदा का एक चित्र सामने आ जाता है। यह 'चित्र-कला' बिहारी की बड़ी भारी विशेषता है, जो हिंदी के कम कवियों में पाई जाती है।

बिहारी की उक्तियों में जो बाँकपन रहा करता है उसके उदाहरण पहले ही दिए जा चुके हैं। बिहारी की उक्तियों की यह विदग्धता, उनकी यह वचनभंगि, उनका यह वैचित्र्य ही लोगों को लुभाया करता है। यही उनका बिहारीत्व है जो उनको और कवियों से अलग करता है और यही वह विशेषता है जिसके कारण दूसरे कवियों के ऐसे ही दोहों को देखकर लोग कह दिया करते हैं कि यह रचना बिहारी की या बिहारी की सी जान पड़ती है। इसी प्रकार की विशेषता की झलक के कारण दूसरे कवियों के दोहे तक बिहारी के नाम पर चल पड़े।

भाषा

व्रजभाषा का प्रयोग बहुत दिनों से काव्य-भाषा के रूप में होता आ रहा है। प्राकृत में यद्यपि महाराष्ट्री प्राकृत काव्य के लिए गृहीत भाषा थी, पर उसमें और शौरसेनी प्राकृत में, जो व्रजभाषा की जननी है, बहुत कम अंतर था। आगे अपभ्रंश काल में जिस नागर अपभ्रंश की धूम थी वह शौरसेनी अपभ्रंश ही था। इस प्रकार जिस कुल की व्रजभाषा है, वह कुल काव्यभाषा की दृष्टि से बहुत अधिक प्राचीनता का द्योतक है। बात यह थी कि मध्यदेश उत्तरापथ में प्राचीन संस्कृति का केंद्र था और शूरसेन देश मध्यदेश में ही पड़ता था। केवल प्राचीनता के विचार से नहीं, बल्कि विस्तार के विचार से भी व्रजभाषा के व्यवहार का क्षेत्र विस्तृत था। राजपूताने में भी काव्य-भाषा के रूप में इसी का व्यवहार होता था और वे लोग अपनी प्रादेशिक काव्य-परंपरा से इसको अलग करने के लिए इसे 'पिंगल' नाम से पुकारते थे या हैं, क्योंकि प्रादेशिक काव्य की भाषा को वे 'डिंगल' नाम से अभिहित करते हैं। बुँदेलखंड, मध्यदेश और अवध प्रांत के कवि बराबर काव्य-भाषा के रूप में व्रज का व्यवहार करते रहे हैं, पंजाब के पूर्वी प्रांतों में भी काव्य के रूप में इसी का ग्रहण होता रहा। इस प्रकार व्रजभाषा बहुत दूर तक काव्य के लिए व्यवहृत होती रही। जो भाषा इतनी दूर तक सामान्य-काव्य-भाषा के रूप में व्यवहृत होती रही हो, उसका उन उन प्रदेशों की भाषाओं से प्रभावित होना अथवा उन उन प्रदेशों की भाषाओं के शब्दों एवं प्रयोगों का उसमें मिल जाना एक स्वाभाविक बात है। मुसलमानी राजत्व काल में अरबी-फारसी के शब्दों का उसमें आ जाना, उसके लाक्षणिक प्रयोगों से यत्किंचित् प्रभावित हो जाना भी स्वाभाविक बात ही थी।

इसीलिए व्रज का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि कोई कवि व्रज में ही पैदा हो या वहीं जाकर बसे। उस भाषा में जो

ग्रंथ प्रस्तुत हो चुके हैं उनके अनुशीलन से वह बड़े मजे में ब्रज का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी विचार से 'दास' ने अपने 'काव्यनिर्णय' में लिखा कि ब्रज सीखने के लिए ब्रजवास आवश्यक नहीं। विभिन्न भाषाओं या उनके शब्दों का ब्रज में मेल देखकर जो लोग चौंकते हैं, उन्हें भाषा की विस्तार-सीमा पर दृष्टि रखनी चाहिए। 'पृथ्वीराजरासो' में ही कहा गया है कि इस भाषा में कई मेल हैं—

> संस्कृत प्राकृतं चैव राजनीतिं नवं रसं।
> षड्भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया॥

षड्भाषा की जो बात प्राकृत के पुराने वैयाकरणों के यहाँ से चली आती है, उसीका उल्लेख रासोकार ने यहाँ किया है। 'कुरान' का तात्पर्य विदेशी शब्दों से हो सकता है। इधर भिखारीदास जी जब भाषा-निर्णय करने बैठे तो उन्होंने भी भाषा की प्रवृत्ति देखकर छ प्रकार निकाल लिए—

> ब्रजमागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानि।
> सहज पारसीहू मिलै षट्विधि कहत बखानि॥—काव्य-निर्णय, १-१५।

इसी विचार को लेकर उन्होंने जब बड़े-बड़े कवियों की भाषा जाँची तो उन्हें उसमें भी मेल दिखाई पड़ा। तब उन्होंने बेधड़क लिखा—

> तुलसी गंग दुवौ भए सुकबिन के सरदार।
> इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥—काव्य-निर्णय, १-१७।

कुछ आलोचक इस दोहे का अर्थ यह लेते हैं कि तुलसी और गंग इसीलिए कवियों के सरदार कहलाए कि उनके काव्यों में कई प्रकार की भाषा मिलती है। पर 'दास' का यह तात्पर्य नहीं है। ब्रजभाषा का प्रयोग कुछ दिनों तक बुँदेलखंडी कवियों के हाथ में रहा है और पिछले समय में अवध प्रांत के कवियों के हाथ में वह अपनी रूप-रेखा बनाती रही, इसलिए ब्रजभाषा में दोनों भाषाओं के कुछ शब्द भी आ गए और प्रयोग भी। पिछले खेवे के कवियों ने तो अवधी और ब्रज का एक मिश्रण ही तैयार कर लिया था। कथक्कड़ साधुओं और मुसलमानी दरबारों के संसर्ग से खड़ी बोली के शब्द या क्रिया-प्रयोग भी ब्रज में

कहीं-कहीं मिल जाते हैं, विशेषतः जहाँ अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि का झमेला आ खड़ा होता है या मुसलमानी दरबार की बातचीत आ जाती है।

पूर्व पश्चिम के भेद से भाषाओं के दो वर्ग माने जाते हैं। पूर्वी शब्द अवध प्रांत की भाषा के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए ब्रज और खड़ी बोली पश्चिमी भाषाएँ हैं। ब्रज और खड़ी की प्रकृति अधिक मिलती हुई है, पर पूर्वी से इन दोनों का स्पष्ट भेद है। शब्दों के रूपों को दृष्टि में लें तो आकारांत पुंलिंग शब्दों के रूप तीनों भाषाओं में भिन्न-भिन्न मिलते हैं—ब्रज में ओकारांत, खड़ी में आकारांत और अवधी में अकारान्त। जैसे—घोड़ो (ब्रज), घोड़ा (खड़ी) और घोड़ (अवधी)। इस प्रकार पश्चिमी भाषाओं की प्रवृत्ति दीर्घांत है तो अवधी की लघ्वंत। यही नहीं पश्चिमी भाषाओं में शब्द-रूपों में संकोच या सिमटाव की प्रवृत्ति है तो पूर्वी में विस्तार या ढीले रूप की। जैसे, प्यार (ब्रज), प्यार (खड़ी) और पिआर (अवधी)। शब्द रूप में ही नहीं, दोनों में व्याकरण का भी भेद जबर्दस्त है। सबसे मुख्य बात यह है कि खड़ी बोली में कर्ता के जिस कारक चिह्न 'ने' का प्रयोग बहुत अधिक होता है, वह ब्रजभाषा में भी प्रचलित है, पर उस 'ने' का प्रयोग पूर्वी भाषाओं में नहीं होता, इसीलिए पूरबवालों के मुह से 'वे कहे, हम कहें, आप कहे' आदि प्रयोग बराबर सुनाई पड़ते हैं, जो खड़ी बोली के अनुसार अशुद्ध हैं। दूसरा मुख्य भेद दोनों भाषाओं का यह है कि क्रियाओं में अवधी लिंग, वचन और पुरुष का रूप बराबर दिखाती है, पर पश्चिमी भाषाओं में यह बात नहीं है। ब्रजभाषा का प्रयोग सामान्यभाषा के रूप में होता रहा, इसलिए उसमें उधर तो खड़ी बोली के कुछ प्रयोग होने लगे और इधर अवधी के। पिछले समय में अवधी भाषा अवध प्रांत के ही कवियों के हाथ में बहुत दिनों तक रही, इसलिए इसमें अवध के प्रयोग बहुत से आ घुसे। वस्तुतः वह एक खिचड़ी भाषा हो गई। तुलसी ने भी अपनी कई पुस्तकों में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, जिसमें अवधी का बहुत मेल है।

ब्रजभाषा के शुद्ध रूप का प्रयोग करनेवाले बहुत थोड़े कवि मिलते हैं। सूरदास जी की भाषा भी शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है। उसे चलती भाषा या सामान्य-काव्य-भाषा मानना चाहिए। बिहारी की भाषा भी चलती ब्रजभाषा कही जा सकती है, पर साथ ही वह साहित्यिक भी है। ब्रजभाषा का शुद्ध रूप यदि किसी कवि में ठिकाने का मिलता है, तो वह बहुत-कुछ घनानंद में ही मिलता है। इनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग एकदम नहीं हैं या एकाध ही हैं। पर बिहारी में कई पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। सर्वनाम के 'जेहि' 'केहि' आदि पूर्वी प्रयोग बिहारी में बराबर मिलते हैं—

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाहिं॥—४१।

ब्रजभाषा में ए और ओ का ह्रस्व उच्चारण कम होता है, इसलिए 'जेहि' का पाठ बिहारी-रत्नाकर में 'जिहिं' मिलता है।

इसी प्रकार क्रिया के 'लीन', 'कीन', 'दीन' आदि पूर्वी प्रयोग भी बिहारी में बहुत मिलते हैं—

अपने अँग के जानिकै, जोबन-नृपति प्रबीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब कौ बड़ौ इजाफा कीन॥—२।

पिय तिय सौं हँसि कै कह्यौ, लखैं दिठौना दीन।
चंदमुखी, मुखचंदु तैं भलौ, चंद समु कीन॥—४३।

कहीं-कहीं तो 'किय' ऐसा भद्दा एवं बिकृत प्रयोग भी बिहारी ने किया है जो आगे चलकर बहुत प्रयुक्त होने लगा था—

मोर मुकुट की चंद्रिकनु यौं राजत नँदनंद।
मनु ससि सेखर की अकस किय सेखर सत चंद॥—४१६।

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु सीस, केसरि आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत॥—४२।

एक स्थान पर बिहारी ने 'लजियात' शब्द का भी प्रयोग किया है, जो पूर्वी भी माना जा सकता है अथवा तुकांत के लिए संप्रसारित भी—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।
भरे भौन मैं करत हैं नैनन हीं सब बात ॥—३२ ।

यहीं तक नहीं 'है' के लिए अवधी का 'आहि' तक बिहारी में मिल जाता है—

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी, चलि चाहि ।
रही कराहि कराहि अति, अब मुँह आहि न आहि ॥—५६ ।

खड़ी बोली के कृदंत और क्रियापद भी बिहारी में ठीक उसी प्रकार मिलते हैं, जिस प्रकार अवधी के, पर इनका प्रयोग अनुप्रास के ही लिए प्रायः देखा जाता है—

गड़े बड़े छबि-छाक छकि, छिगुनी-छोर छुटैं न ।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीं नह-दी महदी नैन ॥—४४८ ।
नैंकौ उहिं न जुदी करी, हरषि जुदी तुम माल ।
उर तैं बास छुट्यौ नहीं बास छुटैंहूँ लाल ॥—६१६ ।
झुकि झुकि झपकौं हैं पलनु फिरि फिरि जुरि जमुहाइ ।
बींदि पिआगम, नींद-मिस, दीं सब अली उठाइ ॥—५८६ ।

बुँदेलखंडी शब्दों और प्रयोगों के लिए बिहारी के संबंध में कुछ कहने की बात ही नहीं है। 'खंड बुँदेले बाल' के अनुसार वे लड़कपन में वहीं रहे और बुँदेलखंडी केशव की पद्धति और कविता की कुछ विशेष बातों का मिलान करने से इन दोनों के घनिष्ठ संबंध का अनुमान भी दृढ़ होता है। कुछ लोग पिता-पुत्र का संबंध मानते हैं तो कुछ लोग गुरु-शिष्य का। ख़ैर, लखबी, करबी, पायबी आदि की तो कोई बात नहीं, वह तुलसीदास आदि में भी मिलता है, जो अवधप्रांत के थे। एक अव्यय 'स्यौं', बिहारी और केशव में बहुत मिलता है, जो खास बुँदेलखंड का है। इसका अर्थ संग या साथ होता है—

चिलक चिकनई, चटक स्यौं, लफति सटक लौं आइ ।
नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ ॥—१६६ ।
स्यौं बिजुरी मनु मेह, आनि इहाँ बिरहा धरे ।
आठौ जाम अछेह, दग जु बरत बरसत रहत ॥—४४५ ।

पहले छंद में कुछ लोग 'स्यौं' के स्थान पर 'सौं' पाठ भी रखते हैं। दूसरे छंद में 'इहाँ' भी अवधी का रूप है, व्रज में 'ह्याँ' होता है।

'स्यौं' का प्रयोग आगे चलकर और कवि भी उसी प्रकार करने लगे थे जिस प्रकार 'लखिबी, पायबी' आदि का। जैसे ठेठ अवध के रहने-वाले 'दास' भी इसका प्रयोग करते हुए पाए जाते हैं—

स्यौं ध्वनि अर्थनि बाक्यनि लै गुन सब्द अलंकृत सौं रति पाकी।

—काव्य-निर्णय, १–१८।

बुँदेलखंडी शब्दों के प्रयोग की तो कोई बात ही नहीं है, बीसियों शब्द बिहारी में ऐसे मिलेंगे जो खास बुँदेलखंड के हैं, पर पीछे उनमें से कुछ सामान्य-काव्य-भाषा में गृहीत हो गए और उनका धड़ल्ले के साथ प्रयोग होने लगा। जैसे, लाने (लिए), घैरु (बदनामी की चर्चा), कोद (ओर), चाला (द्विरागमन, बिदाई), गोवे, बोवे आदि। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग औरों ने नहीं किया—जैसे सद, सबी आदि।

केशव की ही भाँति एक प्रयोग और भी बिहारी में मिलता है, जिसका चलन व्रज में नहीं हुआ या कम हुआ। 'ने' बिभक्ति के साथ उत्तम पुरुष एक बचन का 'मैं' ही आता है, पर कर्त्ताकारक में 'हौं' भी आता है, यद्यपि इसके साथ 'ने' का प्रयोग नहीं होता। और कारकों में इसका प्रयोग नहीं हुआ करता, पर केशव ने इसको कर्म कारक में भी प्रयुक्त किया है—

पुत्र हौं बिधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरंत।—रामचंद्रिका।

बिहारी में भी 'हौं' का कर्मकारक में प्रयोग मौजूद है—

लोभ-लगे हरि-रूप के करी साँट जुरि, जाइ।
हौं इन बेची बीच हीं, लोइन बड़ी बलाइ॥—१९५।

बिहारी ने एक प्रयोग और भी बिचित्र किया है, वह केशव में भी नहीं मिलता। वह है 'चितई' का प्रयोग। 'चितवना' का भूतकालिक रूप व्रज में 'चितयौ' होता है और लिंग-भेद से इसके स्वरूप में अंतर नहीं पड़ता। 'कान्ह चितयौ' भी होगा और 'राधा चितयौ' भी। पर बिहारी ने स्त्रीलिंग के साथ प्रायः 'चितई' ही लिखा है। 'रत्नाकर जी'

का कहना है कि बिहारी ने इसका प्रयोग अकर्मक रूप में किया है। जैसे 'राधा हँसी, चली' आदि होता है, उसी प्रकार 'चितई' भी। पर बात ऐसी नहीं है, 'लखी' का प्रयोग भी बिहारी में मौजूद है। दोनों के उदाहरण देखिए—

रह्यौ मोहु मिलनौ रह्यौ यौं कहि गहैं मरोर।
उत दै सखिहिं उराहनौ, इत चितई मो ओर ॥—४६३।
सुनि पग-धुनि चितई इतै न्हाति दियैं हीं पीठि।
चकी, झुकी, सकुची, उठी, हँसी, लजी सी डीठि ॥—६२३।
पकि रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसुकाइ।
कै कै सबै टलाटलीं, अलीं चलीं सुखु पाइ ॥—२४।
लहि रति-सुख लगियै हियैं लखी लजौंहीं नीठि।
खुलति न, मो मन बँधि रही वहै अधखुली डीठि ॥—६५५।

इसलिए इसे पूरब का प्रभाव मान लें तो कैसा! पूरबवाले जिस प्रकार 'वे कहे' कहते हैं उसी प्रकार 'पूरबी' की प्रवृत्ति के अनुसार 'कैकयी कही, देखी' आदि भी। जो भी हो, यह प्रयोग चिंत्य अवश्य है। 'चितई' तक ही इसकी समाप्ति नहीं है। एक स्थान पर अवधी के ढंग पर 'बिचारी' का प्रयोग भी है, जिसमें स्त्रीलिंग कर्त्ता में न आकर कर्म में है—

सुनत पथिक-मुँह माह-निसि लुवैं चलति उहिं गाम।
बिनु बूझैं बिनुहीं कहैं जियति बिचारी बाम ॥—२८९।

इसके अतिरिक्त बिहारी में लिंग-विपर्यय भी मौजूद है। एक ही शब्द कहीं पुंलिंग रूप में प्रयुक्त हुआ है और कहीं स्त्रीलिंग रूप में। संस्कृत के कुछ ऐसे पुंलिंग शब्द हिंदी में स्त्रीलिंग प्रयुक्त होने लगे हैं—आत्मा, अग्नि, वायु आदि। संस्कृत के पक्षपातियों का कहना है कि संस्कृत के लिंग की रक्षा हिंदी में होनी ही चाहिए। पर यह संभव नहीं है। कारण यह है कि किसी भी भाषा में जब शब्द अन्यत्र से लिया जाता है तो पहले से प्रचलित परंपरा उस पर अपना प्रभाव डालने लगती है। फारसी के 'कलम' शब्द को ले लीजिए। हिंदी में पहले से

लेखिनी' शब्द प्रचलित था इसलिए उसी अर्थ में प्रयुक्त कलम शब्द का लिंग भी उसी के अनुकूल हो गया, यद्यपि फारसी में यह पुंलिंग है। यदि 'कलम' शब्द को संस्कृत से ही आया मानें तो भी अधिक प्रचलित लेखनी के अनुकूल उसका लिंग भी बदल गया, यद्यपि कलम शब्द संस्कृत में भी पुंलिग है (कलमः पुंसि लेखिन्याम्—अमरकोश)। पर एक ही भाषा में एक ही शब्द के दो लिंग हों यह ठीक नहीं, और एक ही कवि जब उसको दो लिंगों में प्रयुक्त करता है तो और भी भद्दा जान पड़ता है। पर बिहारी ऐसे प्रौढ़ साहित्यज्ञ कवि ने ऐसा क्यों किया, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। संस्कृत शब्दों के संबंध में तो यही कहा जा सकता है कि वह समय एक प्रकार से संक्रमण-काल था। कुछ लोग संस्कृत के शब्दों या उसके विकृत रूपों को उसी लिंग में लाते थे, जो लिंग संस्कृत से मान्य था, पर जनता में वह दूसरे लिंग में प्रयुक्त होने लगा था। बिहारी ने, जहाँ तक जान पड़ता है अज्ञात रूप से, दोनों के अनुसार यथावसर दोनों लिंगों में ऐसे शब्दों का प्रयोग कर दिया है। इसके अतिरिक्त देशभेद से भी लिंगभेद हो जाता है। दही शब्द बनारस में स्त्रीलिंग है, पर पश्चिम में पुंलिंग। गेंद शब्द की कथा सबको ज्ञात है। व्रज में वह स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि बिहारी ऐसे कवियों को भी कुछ शब्दों का लिंग दोनों रखना पड़ा। हमारे विचार से यह अज्ञात रूप में ही हुआ है। उदाहरण लीजिए—

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उसासु।
साईं! सिर-कच-सेत लौं, बीत्यौ चुनति कपासु॥—१३८

इस दोहे में 'उसासु' शब्द पुंलिंग है। संस्कृत के 'उच्छ्वास' शब्द से ही बिगड़ कर उसास शब्द बना है। संस्कृत में 'उच्छ्वास' पुंलिंग है, पर हिंदी में 'उसास' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग रूप में भी मिलता है। और कवियों ने भी इसे दोनों लिंगों में प्रयुक्त किया है और बिहारी ने भी—

बाढ़तु तो उर उरज भर भरि तरुनई बिकास।
बोझनु सौतिनु कैं हियैं आवति रूँधि उसास॥—४४६

यहाँ 'उसास' स्त्रीलिंग है, 'आवति' क्रिया से यह बात स्पष्ट है। पर 'आवति' के स्थान पर 'आवत' पाठांतर करके उसको पुंलिंग भी कह सकेंगे। इसलिए दूसरा उदाहरण लीजिए—

पल न चलैं, जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ; कहौ, मनु पठयौ किहिं पास॥—५३४।

फिरि सुधि दै, सुधि द्याइ प्यौ, इहिं निरदई निरास।
नई नई बहुर्‍यो, दई! दई उसासि उसास॥—६६०।

इन दोनों दोहों में 'उसास' के साथ जो क्रिया-पद आए हैं वे 'अनुप्रास' की लपेट में पड़े हैं, इसलिए इनके लिए पाठांतर की कल्पना नहीं की जा सकती। बिहारी-सतसई के नौ छंदों में 'उसास' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिनमें से कई स्थानों पर क्रिया-पद के साथ उसका स्पष्ट अन्वय न होने से लिंग संदिग्ध माना जा सकता है। यदि 'उकार' को पुंलिंग का द्योतक मानें तो 'बिहारी-रत्नाकर' के अनुसार चार दोहों में पुंलिंग और तीन में उसके स्त्रीलिंग रूप हैं। शेष में लिंग संदिग्ध है।

इसी प्रकार संस्कृत का 'वायु' शब्द भी है, हिंदी में प्रायः 'वायु' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में ही होता है। पर संस्कृत का अनुगमन करनेवाले उसे पुंलिंग ही लिखते हैं। व्रजभाषा में 'वायु' शब्द स्त्रीलिंग रूप में आता है। पर बिहारी ने उसे दोनों लिंगों में प्रयुक्त किया है—

लपटी पुहुप पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद बायु गतिमंद॥—३६२।

यहाँ 'बायु' स्त्रीलिंग है। पर अगले दोहे में पुंलिंग है—

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं, थक्यौ बटोही बाइ॥—३६०।

बाइ (वायु) स्पष्ट पुंलिंग है। इस दोहे में की 'चुवतु' क्रिया भी सकर्मक माननी पड़ेगी, यद्यपि वह अकर्मक है।

संस्कृत को छोड़कर फारसी के शब्दों को लें तो 'रुख' शब्द का प्रयोग बिहारी में स्त्रीलिंग ही मिलता है, यद्यपि है वह फारसी में पुंलिंग और हिंदी में भी अधिकतर पुंलिंग रूप में ही प्रयुक्त होता है—

रस की सी रुख, ससिमुखी, हँसि हँसि बोलत बैन।
गूढ़ मानु मन क्यौं रहै, भए बूढ़-रँग नैन॥—२४३।

'रुख' शब्द का प्रयोग बिहारी ने चार दोहों में किया है और चारों स्थानों में स्त्रीलिंग है, इसका कारण यही है कि ब्रज में इसका प्रयोग स्त्रीलिंग ही होता है।

संस्कृत और फारसी की बात अलग, भाषा का भी एकाध शब्द परिवर्तित लिंग में प्रयुक्त देखा जाता है—जैसे मिठास। यह शब्द स्त्रीलिंग है, पर बिहारी इसका प्रयोग बराबर पुंलिंग में करते हैं—

रही लट्टु है, लाल, हौं लखि वह बाल अनूप।
कितौ मिठास दयौ दई इतैं सलौनैं रूप॥—४७३।

बिहारी में ये सब बातें तो मिलती हैं, पर उन्होंने पूर्वी अर्थ में किसी पश्चिमी शब्द का व्यवहार नहीं किया है—शब्दों का रूप भले ही पूर्वी हो गया हो, प्रयोग भी पूर्वी आ गए हों। यदि कोई शब्द पूर्व और पश्चिम दोनों में अर्थभेद से प्रयुक्त होता है तो उन्होंने उसे पश्चिमी अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। जैसे 'सुघर' शब्द को ही ले लीजिए। इसका अर्थ पश्चिम में 'चतुर' होता है और पूरब में 'सुंदर'। बिहारी ने इसका प्रयोग 'चतुर' अर्थ में ही किया है। जो लोग बिहारी में 'सुघर' का पूर्वी अर्थ ग्रहण करते हैं वे स्वयं अपने पूरब में रहने के कारण भ्रम से ऐसा करते हैं। देखिए—

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनंत गति पुतरी पातुरराइ॥—२८४।

यहाँ 'सुघर' का 'चतुर' अर्थ ही अच्छा घटता है। 'रत्नाकर' जी ने अपनी ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो अर्थभेद से दोनों प्रदेशों में प्रयुक्त होते हैं, पर उन्होंने कई स्थलों पर पूर्वी ही अर्थ लिया है।

इस बखेड़े को छोड़कर बिहारी की भाषा के गुणों पर थोड़ा विचार करना चाहिए। भाषा के संबंध में स्मरण रखना चाहिए कि वह भावों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होती है। भावों को व्यक्त करने के लिए

भाषा चाहे जो हो, पर चाहे जैसी हो यह नहीं कहा जा सकता। यदि भाषा उपयुक्त न होगी तो अच्छे-अच्छे भाव पाठकों तक भली भाँति पहुँचाए कैसे जायँगे? भाषा यदि उपयुक्त न हुई तो नाना प्रकार की अभिव्यंजन-शैलियाँ भी काम नहीं कर सकतीं, भावों को व्यक्त करने के और प्रकार भी किसी काम न आवेंगे। बड़े-बड़े छंद लिखनेवालों के लिए तो कुछ सरलता भी होती है, पर दोहे ऐसा छोटा छंद लिखनेवाले को तो और भी भाषा की व्यंजकता बढ़ानी पड़ेगी। बिहारी ने अपनी समास-पद्धति के अनुकूल अपनी भाषा भी बहुत चुस्त रखी है। थोड़े में अधिक कहने की जैसी शक्ति इस प्रकार के मुक्तक-रचनाकार में होनी चाहिए वह बिहारी में भरपूर है। इतनी ठोस या प्रौढ़ भाषा लिखनेवाला हिंदी में दूसरा कवि नहीं हुआ। जैसी सशक्त भाषा बिहारी ने लिखी है वैसी भाषा लिखनेवाले तो दूर रहे, उलटे भाषा को बिगाड़नेवाले ही पैदा हो गए। शब्दों और वाक्यों की बनावट ऐसी बेढंगी कर दी गई है कि यदि कोई व्याकरणशास्त्री देखने लगे तो झुँझलाकर माथा ही पटक दे। व्याकरण की व्यवस्था भी भाषा में कोई चीज है इसपर कम कवियों ने ध्यान दिया। बिहारी के बाद मतिराम, पद्माकर, दास, द्विजदेव आदि कुछ थोड़े से ही कवि ऐसे दिखाई पड़ते हैं जो अच्छी भाषा लिख लेते थे। बिहारी की भाषा व्याकरण से कितनी बँधी है, उसमें वाक्यों की बनावट कैसी चुस्त है, उनका कोई एक ही दोहा सामने रखने से इसका पता चल जायगा—

> नैंक हँसौंहीं बानि तजि, लख्यौ परत मुहुँ नीठि।
> चौका-चमकनि-चौंध मैं परति चौंधि-सी डीठि ॥—१००।

बिहारी के दोहों में जिस सामासिक पद्धति का ग्रहण है, तदनुसार न्यूनपदत्व दोष की बहुत संभावना है, पर बिहारी की पदावली इतनी व्यंजक और उसका संगठन इतना स्थानस्थ होता है कि ऐसे दोष उसमें दिखलाई पड़ते ही नहीं। कहीं-कहीं कर्ता दूर जा पड़ा है, इसे दूरान्वय चाहे कहें, पर इससे कोई दोष वस्तुतः आया नहीं है। जैसे इन दोहों में—

गड़े, बड़े छबि-छाक छकि छिगुनी-छोर छुटैं न ।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीं नह-दी महदी नैन ॥—४४८ ।
फिरि-फिरि दौरत देखियत निचले नैंकु रहैं न ।
ए कजरारे कौन पर करत कजाकी नैन ॥—६७० ।

पहले दोहे के आदि में 'गड़े' क्रिया है और 'नैन' कर्ता एकदम अंत में पड़ा है। दूसरे दोहे में भी 'नैन' विशेष्य 'कजरारे' विशेषण से बहुत दूर पड़ गया है, बीच में कितने ही शब्द आ गए हैं। शास्त्रीय विचार से तो दूरान्वय दोष प्राप्त है, पर दोष तभी होता है जब उसके कारण किसी प्रकार का व्याघात पहुँचता हो। इन दोहों के अर्थ में वैसी कठिनाई नहीं पड़ती, अन्वय के कारण अर्थ में कोई गड़बड़ी उत्पन्न होने की संभावना नहीं है, इसलिए इन्हें दोष मुक्त कहा जा सकता है।

हमारे यहाँ भाषा के संबंध में शास्त्रीय विचार अलग नहीं हुआ है। अलंकारों के भीतर शब्दालंकार मुख्यतया भाषा की ही संपत्ति हैं। उनका प्रयोग यदि सावधानी से किया जाय तो वे भाषा में अच्छी सजावट ला देते हैं। लक्षणा की बहुत सी बातें भाषा के भीतर ही आती हैं। मुख्यतया रूढ़ प्रयोग, जिनमें मुहावरे आ जाते हैं। गुण, वृत्ति, रीति आदि एक प्रकार से भाषा के ही विचार हैं। बिहारी में यदि भाषा का आलंकारिक गुण देखा जाय तो अनुप्रास की योजना बहुत सावधानी के साथ की गई है। कहीं कहीं तो अनुप्रास की योजना ऐसी है कि अनुरणन या शब्द-झंकृति का काम देती है। आजकल इस प्रकार की शब्द या वर्णयोजना की बड़ी प्रशंसा है जिसके द्वारा प्रस्तुत प्रसंग की ध्वनि भी उत्पन्न होती है। झरने के वर्णन में ऐसी शब्दावली आनी चाहिए जिसके उच्चारण से झरने के प्रपात की सी ध्वनि भी निकलती हो। किसी के गहना पहनकर चलते समय का वर्णन इस प्रकार का करना चाहिए जिससे उन आभूषणों की ध्वनि की सी आवाज छंद से स्वतः निकलती हुई जान पड़े। जैसे तुलसीदासजी की इस चौपाई में—

कंकन-किंकिन-नूपुर-धुनि सुनि ।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि ॥—रामचरितमानस, बालकांड ।

यहाँ 'कंकन-किंकिन' आदि शब्द ऐसे रखे गए हैं जिनसे उन आभूषणों की सी ध्वनि भी निकल रही है। बिहारी में भी यह गुण पाया जाता है—

रनित-भृंग-घंटावली, झरित-दान-मद-नीरु।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज-समीरु ॥—३८८।

इस दोहे में ऐसे शब्द आए हैं जिनसे घंटा बँधे हुए हाथी के चलने और वायु के संचरित होने की ध्वनि भी निकलती है।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में भी 'झमकि-झमकि' शब्द गहनों की ध्वनि उत्पन्न कर रहा है—

ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि-झमकि टहलैं करै लगी रहचँटैं बाल ॥—५४३।

भाषा की व्यंजकता बढ़ाने के लिए बिहारी ने दोहरे अर्थवाले शब्दों का प्रयोग खूब किया है, कहीं वह श्लेष के रूप में है कहीं विरोध उत्पन्न करने के लिए। जैसे—

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधैं ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु ॥—२६१।

यहाँ 'गुन' शब्द दोहरे अर्थवाला है, वह 'गुण' के अतिरिक्त 'डोर' अर्थ भी देता है जिसकी संगति 'बाँधौ' से लगती है।

बिहारी में ठीक वैसा विरोध तो नहीं मिलता जैसा घनानंद आदि में लाक्षणिकता को लेकर आया है, पर विरोध की प्रवृत्ति बिहारी में भी है और उन्होंने अपने कई दोहों में उसका अच्छा चमत्कार दिखाया है। देखिए—

धनि यह द्वैज; जहाँ लख्यौ, तज्यौ दृगनु दुख-दंदु।
तुम भागनु पूरब उयौ, अहो! अपुरबु चंदु ॥—३८५।

रुखाई और चिकनाई का विरोध तो बिहारी में कई स्थानों पर मिलता है। है यह एक प्रकार का आलंकारिक चमत्कार ही, पर भाषा की सांकेतिक शक्ति का विभव इस प्रकार के प्रयोगों से अधिक स्पष्ट दिखाई

पड़ता है, अतः इन्हें भी भाषा की पद्धति के भीतर लेना बुरा नहीं कहा जा सकता—

एरी, यह तेरी, दई, क्यौं हूँ प्रकृति न जाइ।
नेह-भरैं हिय राखियै, तउ रूखियै लखाइ ॥—६०४।

बक्रोक्ति भी बिहारी की भाषा में बहुत स्वाभाविक रूप में दिखाई पड़ती है। यह वचन-भंगी अलंकार का विषय न होकर व्यंग्य का विषय है—

कत सकुचत, निधरक फिरौ, रतियौ खोरि तुम्हैं न।
कहा करौ, जौ जाइ ए लगैं लगौहैं नैन ॥—२८६।

ब्रजभाषा समास-बहुल भाषा नहीं है, इसलिए उसमें सामासिक पदावली की अधिकता अच्छी नहीं जान पड़ती। लोग स्तुति या वर्णन आदि के लिए सामासिक पदावली रखते हैं और अधिकतर संस्कृत-पदावली का सहारा लेते हैं। बिहारी ने ब्रज की प्रकृति के अनुरूप छोटे-छोटे समास ही रखे हैं। भाषा में कसावट लाने के लिए और भाषा की व्यंजकता बढ़ाकर छोटे साँचे में अधिक भाव भरने के लिए सामासिक पदावली का सहारा लेना बिहारी के लिए आवश्यक था। सामान्यतया बिहारी ने तीन-चार पदों तक ही समास रखे हैं। पर सामासिक पदावली के कारण धारा में या अर्थ की अभिव्यक्ति में कोई अड़चन उपस्थित नहीं हुई है। साधारणतः वे कैसे समास रखते हैं इसके लिए दो-एक उदाहरण लीजिए—

बिकसित-नवमल्ली-कुसुम-निकसित परिमल पाइ।
परसि पजारति बिरहि-हिय बरसि रहे की बाइ ॥—१७५।
सोहति धोती सेत मैं कनक-बरन-तन बाल।
सारद-बारद-बीजुरी-भा रद कीजति, लाल ॥—४७८।

पर कहीं-कहीं इससे भी लंबे समास हो गए हैं, फिर भी किसी प्रकार की क्लिष्टता कहीं भी नहीं आने पाई है। जैसे—

समरस-समर-सकोच-बस-बिबस न ठिक ठहराइ।
फिरि-फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकति आइ ॥—५२७।

चलित-ललित, श्रम-स्वेदकन-कलित, अरुन मुख तैं न।
बन-बिहार-थाकी-तरुनि-खरे-थकाए नैन ॥—४०४।

कुछ लोग 'तरुनि' के बाद 'खरे-थकाए' को अलग रखते हैं, पर व्याकरण को ध्यान में रखकर चलनेवाले को 'थकाए' तक सामासिक पद मानना पड़ेगा और पूरा समस्त पद नैन का विशेषण होगा।

व्रजभाषा की इस असमास-बहुल प्रकृति पर ध्यान न देकर कुछ लोगों ने उसमें अधिक सामासिक पदावली रख दी है। 'रत्नाकर' ऐसे विद्वान् कवि तक ने व्रज में कहीं-कहीं सामासिक पदावली बहुत अधिक कर दी है, इससे उनकी भाषा बहुत जकड़ गई है। यह जकड़बंदी व्रज की प्रकृति के विरुद्ध है, इसीलिए उनकी भाषा में क्लिष्टता आ गई है। एक उदाहरण लीजिए—

तिनकैं संगहि भई ।प्रगट इक बाल मनोहर।
अखिल-लोक-सुख-पुंज-मंजु-जीवन-देवी बर ॥
दोउ-सुख-संपति-परम-मूल-घन-बृद्धि-रमा सी।
बहुरि-दरस-रस-अलह-लाहु-आनंद-प्रभा सी ॥—गंगावतरण, ४-१८।

दूसरी पंक्ति का समास तो झगड़े का नहीं है, पर तीसरी और चौथी पंक्तियों में यदि 'दोउ' एवं 'बहुरि' के बाद सामासिक चिह्न न लगा हो तो पाठक को दूसरे ही अर्थ भासित होंगे और वह व्यर्थ ही परेशान होगा।

बिहारी की सामासिक शैली सरल भी है और सीधी भी। उनकी पदावली भाषा की प्रकृति के अनुकूल ही जुड़ती है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उनकी पदावली सधी हुई है।

बिहारी के लाक्षणिक प्रयोगों और मुहावरों पर भी विचार करना चाहिए। मुहावरे भी एक प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग ही हैं, पर रूढ़। बिहारी में मुहावरों की बंदिश अच्छी है। हम पहले ही कह आए हैं कि इनकी कविता पर मुसलमानी लाक्षणिकता का भी प्रभाव पड़ा है। हमारे यहाँ मुहावरों का प्रचलन अपेक्षाकृत कम रहा है, पर बाहरी प्रभाव से मुहावरों का प्रयोग बढ़ा। बिहारी ने अधिकतर लाक्षणिकता

व्रज की प्रकृति के अनुरूप ही रखी है। घनानंद आदि में बाहरी रंग-ढंग कुछ विशेष लक्षित होता है, पर उन्होंने भी व्रज की प्रकृति के विरुद्ध जाने का प्रयत्न नहीं किया। इन लोगों की मुहावरेबंदिश में बाहरी प्रभाव वहाँ स्पष्ट जान पड़ने लगता है जहाँ मुहावरों को लेकर ही कलाबाजी की जाती है। जैसे बिहारी के इस दोहे में—

> मूड़ चढ़ाऐंऊ रहै पर्यौ पीठि कच-भारु।
> रहै गरैं परि, राखिबौ तऊ हियैं पर हारु॥—४५१।

इस छंद में 'मूड़ चढ़ाऐं', 'पर्यौ पीठि', 'गरैं परि' और 'हियैं पर' में मुहावरेबंदिश को लेकर जो दोहरे अर्थ—वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ—निकाले गए हैं, वह मुसलमानी प्रभाव के कारण। पर बिहारी में ऐसे दोहे बहुत कम मिलेंगे, मुहावरों का अधिक खेलवाड़ इनमें नहीं मिलेगा। जहाँ मुहावरों का विशेष विन्यास मिलता भी है, वहाँ वह अपने यहाँ की पद्धति के अनुकूल और बहुत स्वाभाविक है। जैसे—

> जब जब वै सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाँहि।
> आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखैं लागति नाहिं॥—६२।

इसमें देखा जा सकता है कि बिहारी मुहावरों को लेकर विरोध दिखा रहे हैं, पर इस चमत्कार से उक्त अवस्था की व्यंजना अधिक आनंददायिनी है, इससे यहाँ योजना शोभाधायक है।

चलते लाक्षणिक प्रयोगों के सहारे अलंकार की साधना भी बिहारी बड़े मजे में कर लेते थे। जैसे इस प्रसिद्ध दोहे में—

> दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरति चतुर-चित प्रीति।
> परति गाँठि दुरजन-हियैं, दई, नई यह रीति॥—३६३।

इसमें सभी प्रयोग लाक्षणिक हैं और चलते भी। जुटाव ऐसा चातुर्यपूर्ण है कि (संबंध-) सूत्र के संबंध के ही लाक्षणिक प्रयोग बराबर आए हैं।

किसी की उक्ति में तो बिहारी बराबर बहुत चलते हुए मुहावरे और लाक्षणिक प्रयोग रखते हैं—

खरी पातरी कान की कौन बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै, अली, अली जिय जानि ॥—१४।

बिहारी जिस प्रकार कसी हुई भाषा लिखते हैं उसी प्रकार उनकी वाग्धारा स्फीत भी मिलती है। उनके बहुत-से दोहों की स्फीतता उनके भाषा के अधिकार का संकेत करती है। जिस प्रकार वे इस प्रकार के गठे हुए दोहे लिखते हैं—

जौं चाहत, चटक न घटै, मैलो होइ न, मित्त।
रज राजसु न छुवाइ तौ नेह-चीकनौं चित्त ॥—३६६।

उसी प्रकार वे इस प्रकार के दोहे भी लिखते हैं—

सघन कुज-छाया सुखद सीतल सुरभि-समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहिं जमुना के तीर ॥—६८१।

नाचि अचानक हीं उठे बिनु पावक बन मोर।
जानति हौं नंदित करी यह दिसि नंदकिसोर ॥—४६६।

कैसी स्फीत वाग्धारा है!

बिहारी के शब्दों और उनके स्वरूपों पर भी थोड़ा विचार करना चाहिए। इन्होंने कुछ शब्द तो पुराने भी रखे हैं जैसे—लोयन, बिय आदि। पर ऐसे प्राकृताभास शब्दों का अधिक प्रयोग बिहारी में नहीं है। उन्होंने अपनी भाषा में शब्दों को समझकर और भाषा में समयानुकूल संस्कार करते हुए ही रखा है। बिदेशी शब्दों के प्रयोग के बिषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। व्रज चलते बिदेशी शब्दों का ग्रहण बराबर करती आई है। अब रहा शब्दों का तोड़ना-मरोड़ना। बिहारी पर सबसे बड़ा दोष यही लगाया जाता है कि उन्होंने शब्दों को बहुत तोड़ा-मरोड़ा है। शब्दों को कवि लोग भाषा की प्रकृति के अनुसार गढ़ लिया करते हैं। जहाँ भाषा की प्रकृति को त्याग कर शब्दों का स्वरूप स्थिर किया जाता है वहीं गड़बड़ी होती है। 'स्मर' को 'समर' लिखना भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है। इसी प्रकार 'ज्यों ज्यों' के लिए 'जब्यों', 'त्यों-त्यों' के लिए 'तत्यों' लिखना भी ठीक नहीं। 'कैकै' के

स्थान पर 'कके' भी नहीं जँचता। पर बिहारी ने इस प्रकार की गड़बड़ी बहुत कम की है। छंदानुरोध से कहीं-कहीं उन्हें ऐसा करना अवश्य पड़ा है, पर तोड़-मरोड़ के स्थल वस्तुतः कम ही हैं। बिहारी की भाषा में जो लोग तोड़-मरोड़ दिखलाते हैं, वस्तुतः उन्होंने अभी यही नहीं समझ पाया है कि जिस शब्द को हम जिस शब्द का विकृत रूप बतलाते हैं वह ठीक है या नहीं। जैसे 'संक्रोनु' शब्द का मूल लोग 'संक्रांति' बतलाते हैं, पर वह निकला या बनाया गया है 'संक्रमण' से। इसी प्रकार 'सोनजाय' को वे 'सोनजुही' से जोड़ते हैं[1], 'स्वर्णजाती' से नहीं। इस संबंध में अधिक न कहकर यहाँ पर हिंदी के प्रौढ़ और सर्वमान्य आलोचक आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल जी की वाक्यावली ज्यों की त्यों उद्धृत कर देना ही अधिक समीचीन होगा—

"बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढ़ंत शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है। दो-एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिए समर, 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नहीं जानते कि संक्रांति को संक्रमण (अपभ्रंश 'संक्रोन') भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आसपास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द 'स्वर्णजाती' से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'वार्' दोनों शब्द हैं और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप

---

१. हिंदी-नवरत्न।

बहुबचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष।"[1]

इतने से ही बिहारी की भाषा के संबंध में फैली भ्रमपूर्ण धारणा का निराकरण हो जाना चाहिए। बिहारी की भाषा वस्तुतः बहुत प्रांजल और प्रौढ़ है, उसमें अपनी अनभिज्ञता से शैथिल्य ढूँढ़ना व्यर्थ का प्रयास है।

इसी सिलसिले में सतसई के शब्दों एवं बिभक्तियों के रूपों पर विचार कर लेना चाहिए, विशेषतः उन रूपों पर जो 'बिहारी-रत्नाकर' में रखे गए हैं। 'ए' के स्थान पर 'ऐ' और 'ओ' के स्थान पर 'औ' उच्चारण तो अधिक बिचार की बात नहीं, व्रजभाषा-प्रदेश या पुराने साहित्य में गृहीत रूपों और इनमें कोई बिभेद नहीं है। इसलिए 'कीजियौ' गयौ, कह्यौ' आदि के संबंध में तथा बिभक्तियों के 'मैं, कौं, सौं, तैं' आदि रूपों के संबंध में भी कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। बिचारणीय रूप दो-तीन ही हैं। सबसे पहले पूर्वकालिक क्रियाओं के रूपों पर विचार करना चाहिए। 'समुझाइ, दिखाइ, बसाइ' आदि में रूप 'स्वरांत' हैं अर्थात् इनके अंत में 'इ' है। पर व्रज का उच्चारण या व्रजभाषा में पूर्वकालिक क्रिया का रूप व्यंजनांत या यकारांत होता है अर्थात् समुझाय, दिखाय, बसाय आदि रूप होने चाहिएँ। 'इ' वाली प्रवृत्ति अवधी की है। तो क्या बिहारी ने यहाँ भी अवधी के ही रूप स्वीकृत किए हैं? अवधी का व्रज पर इतना अधिक प्रभाव उस समय नहीं था, पीछे चाहे जो हो गया हो। इसलिए ये रूप पुरानी परंपरा के द्योतक माने जायँगे, जो बहुत दिनों से चले आ रहे थे। प्राकृत एवं अपभ्रंश में 'इ' वाले ही रूप होते हैं। दो स्वरों का साथ उच्चारण व्रज के अनुकूल नहीं पड़ता इसी से 'इ' को 'य' करके पढ़ने लगे। इसलिए इन रूपों की विधि तो बैठ जाती है।

अब सामान्यकारक का बहुवचन रूप लीजिए। पुरानी भाषा में बहुबचन रूप 'न' लगाने से बनते हैं। अकारांत शब्दों के बहुवचन इसी 'न' के लगाने से बनते हैं। इन्हीं के 'निकारांत' और 'नुकारांत' रूप भी

---

१. हिंदी-साहित्य का इतिहास

मिलते हैं; जैसे दृगन, दृगनि, दृगनु। ऐसे रूपों के संबंध में विचारना यही है कि कौन-सा रूप व्याकरणसंमत होगा। दृगन और दृगनि के से प्रयोग तो व्रजभाषा में बराबर देखने में आते हैं, पर 'दृगनु' ऐसे प्रयोग कम मिलते हैं। 'बिहारी-रत्नाकर' में 'दृगनु' ऐसे रूप ही रखे गए हैं। टीकाकार महोदय ने भारी गणना करके यह देखा कि नुकारांत-रूपवाले प्रयोग हस्तलिखित प्रतियों में अधिक हैं इसलिए उन्होंने इसे ही बिहारी-स्वीकृत रूप माना। उनका कहना है कि एकवचन में 'उकारांत' रूप होते हैं इसलिए बहुवचन में भी 'नकारांत' रूपों में 'उ' लगाना ठीक है। इस विषय में विचारणीय बात यह है कि 'अकारांत' पुंलिंग शब्दों के ही एकवचन में और कर्त्ता एवं कर्मकारकों में 'उकारांत' रूप होते हैं। यह संस्कृत के विसर्ग का ही 'ओ' होकर घिसा रूप है, जो अपभ्रंश में खूब प्रचलित था। इसलिए उकारांत पुंलिंग शब्द के एकवचन तथा कर्त्ता एवं कर्मकारक में 'उ' का प्रयोग तो ठीक है। उसके विशेषणों और कृदंत विशेषणों में भी 'उ' ठीक है—रहतु, चलतु आदि। पर बहुवचन में इस 'उ' का उड़कर चला जाना ठीक नहीं जँचता। काव्य में बहुवचन के उकारांत रूप भी नहीं मिलते या कम मिलते हैं, इसलिए यह भ्रममात्र जान पड़ता है। अपभ्रंश के बहुवचन में अकारांत या आकारांत रूप ही बनते थे।

> वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
> अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥[1]—हेमचंद्र।

इसमें आकारांत रूप मिलता है जो संस्कृत के 'आः' से विसर्ग लोप के कारण बना माना जायगा।

---

१. (वियोगिनी नायिका घर पर आकर बैठे हुए) कौवे को (इसलिए) उड़ा रही थी (कि यदि मेरा पति आता हो तो उड़ जा)। इतने में अचानक प्रिय दिखाई पड़ गया। (पहले वह वियोग से इतनी दुबली थी कि कौवे के उड़ाने में) आधी चूड़ियाँ खिसक कर पृथ्वी पर गिर पड़ीं (पर एकाएक नायक को देखकर हर्ष से वह इतनी मोटी हो गई कि) हाथ में जो आधी चूड़ियाँ रह गई थीं वे भी तड़-तड़ टूट गईं।

अब प्रश्न यह होता है कि वस्तुतः बहुवचन का 'न' आया कहाँ से ? हमारे विचार से यह नपुंसक लिंग के 'नि' से आया है। इसी का घिसा रूप 'न' है। इसलिए 'नकारांत या निकारांत' रूप अधिक व्याकरण-संमत हैं। इसके अतिरिक्त नियमानुसार 'नि' रूप का प्रयोग प्रथमा और द्वितीया में ही होना चाहिए। पर इसका प्रयोग अन्य कारकों में भी होता है। इसका कारण हमारे विचार से दूसरा ही है। वस्तुतः बहुवचन का रूप तो 'न' से बन जाता था, पर विभक्ति का बोध कराने के लिए सामान्यकारक की 'हि' विभक्ति लगती थी, जिसका घिसा रूप 'इ' होता था। यही 'न' में लगाकर अन्य कारकों में भी 'नि' रूप बन जाते थे। इसलिए रूप-साम्य होने पर भी 'नि' को अन्य कारकों में दूसरी ही विधि से प्राप्त रूप समझना चाहिए। यही कारण है कि पुराने कवि जहाँ सप्तमी आदि में 'नि' वाला रूप रखते थे वहाँ फिर विभक्ति नहीं लगाते थे। वे लिखते थे—'बननि औ बागनि घनेरे अलि घूमि रहे।' पर आगे चलकर लोगों ने इन रूपों को भी मूल रूप समझा और इनके आगे भी कारक-चिह्न प्रकट होने लगे और लोग 'बागनि मैं' आदि रूप बेधड़क लिखने लगे। पर इस प्रयोग में दोहरी विभक्ति माननी चाहिए। इस प्रकार 'नु' से अंत होनेवाले रूप ठीक नहीं जान पड़ते।

अब कारणसूचक रूपों पर विचार कीजिए। चलैं, जाएँ, लखैं आदि के संबंध में तो कुछ अधिक कहने की जरूरत नहीं, क्योंकि जाएँ, चलें आदि रूप अपभ्रंश में बराबर मिलते हैं। व्रज में इनका प्रयोग सानुनासिक ही होता था, पर कविता में कुछ लोग निरनुनासिक रूप भी लिखने लगे। इस प्रकार के कारणसूचक शब्दों के अतिरिक्त जहाँ किसी कारक-चिह्न का लोप है, वहाँ भी रत्नाकरजी ने इसी प्रकार के रूप रखे हैं—

जुवति जोन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ ॥—७।

इसमें 'डोरैं' का अर्थ है 'डोरे में'। 'डोरैं' को तो 'हि' या 'हिं' के घिसे रूप से बना मान लिया जायगा। पर 'डोरैं' के पहले 'के' कारक-

चिह्न भी अपना भेष बदल कर खड़ा हो गया है। यह रूप कैसे प्राप्त हुआ, इसपर रत्नाकरजी ने बिचार नहीं किया है। वस्तुतः ,कैं' लिखना बहुत समीचीन नहीं हुआ। जहाँ-जहाँ शब्द के बाद बिभक्ति का लोप है, वहाँ-वहाँ संबंध के चिह्न की यही 'वेश-भूषा' है। संभव है ब्रज में उच्चारण ऐसा ही होता हो, पर व्याकरण से इस रूप के बनने का कोई प्रकार नहीं दिखाई देता। यदि ब्रज के उच्चारण की नकल ही करनी है तो फिर 'प्रेम' न लिखकर मथुरिया साहित्यिकों की तरह 'प्रैमु' लिखना ठीक होगा। हमारे बिचार से सामान्य-काव्य-भाषा के रूप में गृहीत ब्रजभाषा में ठेठ ब्रज के उच्चारण की नक़ल करने की आवश्यकता नहीं। कवियों की परंपरा जिस प्रकार का रूप रखती आई हो उसे ही रखना चाहिए। सतसई की हस्तलिखित प्रति में यदि ऐसा रूप मिलता हो तो भी उसे किसी ब्रजबासी के उच्चारण की नकल ही माननी पड़ेगी। 'कैं' के और उदाहरण लीजिए, इसमें संबंध का शब्द कुछ दूर जा पड़ा है—

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान।
धस्यौ मनौ हिय-घर समरु, ड्योढ़ी लसत निसान॥—१०२।

'कैं' का संबंध कान से है—'गोपाल के कान में'।

इसी प्रकार शब्द-लोप होने पर भी 'के' 'कैं' हो गया है—

हा हा! बदनु उघारि, दृग सफल करैं सबु कोइ।
रोज सरोजनु कैं परै, हँसी ससी की होइ॥—५२।

यहाँ 'सरोजनु कैं' का अर्थ होगा—सरोजों के यहाँ, या सरोजों के निमित्त। और साफ उदाहरण यह है—

जेती संपति कृपन कैं, तेती सूमति जोर।
बढ़त जात ज्यौं ज्यौं उरज, त्यौं त्यौं होत कठोर॥—१११।

'कृपन कैं' का अर्थ है 'कृपण के पास'।

इसी 'कैं' का जोड़ीदार एक 'सैं' भी है, जिसका बिहारी-रत्नाकर में कई जगह प्रयोग किया गया है। यह 'सी ही' का बिकृत रूप बताया जाता है। अन्य पुस्तकों में इसका रूप 'सी' ही मिलता है। 'सैं' रूप भी

'कै' की ही तरह प्रांतिक है; उसका सामान्य-काव्य-भाषा में प्रयोग समीचीन नहीं जान पड़ता—

सटपटाति-सैं ससिमुखी मुख घूँघट-पटु ढाँकि।
पावक-झर-सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि ॥—६४६।

'सटपटाति-सैं' का अर्थ होगा 'सटपटाती हुई सी'। संभावना या समता दोनों का बोध कराने के लिए 'सी' का प्रयोग होता है। यहाँ संभावना के लिए 'सी' का प्रयोग हुआ है। संभावना के लिए 'सी' का प्रयोग क्रिया या कृदंत रूप के साथ होता है—

ज्यौं ज्यौं पावक-लपट-सी तिय हिय सौं लपटाति।
त्यौं त्यौं छुही गुलाब सैं छतिया अति सियराति ॥—३५४।
इत आवति चलि जाति उत चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ ॥—३१५।

'छुही गुलाब सैं' का अर्थ—'गुलाब से छुही हुई सी, सिंची हुई सी' और 'चढ़ी हिंडोरैं सैं' का अर्थ है—'हिंडोले पर चढ़ी हुई सी' है। व्रज की प्रचलित परिपाटी के अनुसार 'गुलाब छुही सी' एवं 'हिंडोरे चढ़ी सी' लिखना पर्याप्त है। छंदानुरोध से कृदंत रूप अलग जा पड़े हैं और 'सी' संज्ञा-शब्द के साथ पड़ गई है। अन्वय से संगति मिल जाती है। इसलिए 'सी' का 'सैं' रूप अद्भुत ही कहा जायगा।

बिहारी की भाषा पर और अधिक बिचार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इतने से पता चल गया होगा कि उनकी भाषा कैसी समर्थ भाषा है और चलती भाषा को लेकर भी उन्होंने किस प्रकार उसे साहित्यिक साँचे में ढाला है। व्याकरण की दो-एक बात को छोड़कर बिहारी की भाषा व्याकरण से इतनी अधिक गठी हुई है; मुहावरों का प्रयोग, शब्दों का संचय, सांकेतिक शब्दावली, सुष्ठु पदावली (diction) ऐसी मँजी हुई है कि उनकी भाषा को प्रौढ़ एवं प्रांजल कहना ही पड़ता है। बिहारी की सी भाषा लिखने में हिंदी के बहुत कम कबि समर्थ हुए हैं। शब्दों की तोड़-मरोड़ का जो कलंक उनपर लगाया जाता है वह किसी का पक्षपात मात्र है। वे कई प्रकार से अपनी भाषा की सजावट किया करते थे। उसमें जिस प्रकार ठोसपन है उसी प्रकार स्फीत वाग्धारा

थी। इसके अतिरिक्त विषय के अनुरूप भी उनकी भाषा अपना रूप बदल दिया करती थी। यदि किसी नागरिक नायिका का वर्णन आएगा तो उसकी शब्दावली दूसरे ढंग की होगी, ग्रामीण स्त्री का वर्णन होगा तो उसकी पदावली तुरत बदल जायगी। प्रसंग के अनुरूप शब्दयोजना भी बिहारी की एक विशेषता ही है। देखिए ग्रामीण नायिका का वर्णन किन शब्दों में किया जा रहा है—

पहुला-हारु हियैं लसै, सन की बेंदी भाल।
राखत खेत खरी खरी, खरे उरोजनु बाल॥—२४८।
गोरी गदकारी परैं हँसत कपोलनु गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़॥—७०८।

जैसी सीधी-सादी गवारिनी है वैसा ही उसका वर्णन है और वैसी ही भाषा भी है। पुराने अलंकाराभ्यासी इसमें अपने स्वाभावोक्ति अलंकार की खूबी दिखा-दिखाकर प्रसन्न होंगे।

पर नागरी का वर्णन इतना सादा नहीं मिलेगा, भाषा भी कुछ नागरिकों की-सी होगी। उसमें कुछ आलंकारिक चमत्कार भी होगा—

खेलन सिखए, अलि, भलैं चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार॥—४५।

कहने का तात्पर्य यह कि बिहारी का भाषा पर सच्चा अधिकार था। उनके बाद भाषा पर अपना अच्छा अधिकार दिखलानेवाले मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही प्रवीण कवि हुए हैं। आधुनिक समय में रत्नाकर-जी ने भी वैसा ही अधिकार दिखाया है। इसलिए बिहारी को भाषा का पंडित कहना चाहिए। घनानंद आदि दो-एक कवियों की बात तो हम नहीं कह सकते, पर भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करनेवाला, भाषा पर वैसा ही अधिकार रखनेवाला कोई मुक्तक-रचनाकार नहीं दिखाई पड़ता। शब्दों की मनमानी व्युत्पत्ति दिखाकर चाहे बिहारी को भाषा का तोड़ने-मरोड़नेवाला भले ही कह लिया जाय, पर इस प्रकार के कथन में सचाई नहीं है, कचाई ही है। जिन्हें हिंदी भाषा का कुछ ज्ञान होगा और जिन्होंने व्रजभाषा का अध्ययन किया होगा वे आप ही इस बातको परख लेंगे।

दोष-दर्शन

सतसई की रचना इतनी सावधानी के साथ की गई है कि उसमें साहित्यिक दोषों का ढूँढ़ निकालना साहस का काम है। बिहारी ने एक-एक शब्द को भली भाँति तौल कर रखा है। भावों का बिन्यास बहुत ही संयत रूप में हुआ है, भाषा का प्रयोग बहुत व्यवस्थित है, शैली अत्यंत परिमार्जित है। फिर भी यत्र-तत्र छोटे-छोटे दोष दिखाई पड़ते हैं। दोषों का निर्देश अलग प्रकरण में करने की अधिक आवश्यकता नहीं थी क्योंकि पिछले अध्यायों में जिस विषय का जो दोष दिखाई पड़ा वह उसीके साथ कह दिया गया है। इतना होने पर भी दो-चार दोष ऐसे हैं जो उनके अंतर्गत नहीं आ सके हैं। उनका संकेत-मात्र कर देने के लिए यहाँ कुछ लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई है।

किसी प्रकार के चमत्कार या रस में जिन कारणों से व्याघात पहुँचता है उन्हें ही दोष कहा जाता है। किसी रस की चर्वणा में यदि किसी भद्दे प्रसंग के आ जाने से कोई अड़चन उपस्थित हुई तो वह दोष के अंतर्गत है। यदि कवि किसी प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करना चाहता है पर उसमें किसी प्रकार से आघात पहुँचता है तो वह भी एक प्रकार का दोष है, जो रसेतर दोष कहा जायगा। इसी प्रकार अर्थ, शब्द, वाक्य, पद, पदांश, अलंकार आदि को लेकर न जाने कितने भेद कर डाले गए हैं। बिहारी की कविता में दोष कम मिलते हैं यह पहले ही कहा जा चुका है। इस प्रकार की चुस्त रचना में न्यूनपदत्व, दूरान्वय, गूढ़त्व आदि दोषों की अधिक संभावना रहती है, पर बिहारी ने ऐसी सशक्त और व्यंजनात्मक भाषा का प्रयोग किया है कि उसमें न्यूनपदत्व की संभावना कहीं नहीं रह जाती। कहीं-कहीं बिभक्तियों का स्पष्ट उल्लेख न होने से कुछ गड़बड़ी अवश्य उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए यह दोहा देखिए—

झूठे जानि न संग्रहे मन मुँह निकसे बैन।
याही तैं मानहु किये बातनु कौं बिधि नैन ॥—३४५।

यहाँ मन कर्ता है, पर वह ऐसे स्थान पर पड़ गया है कि कुछ लोगों ने उसे अन्य कारकों में रखकर अन्य प्रकार के अर्थ कर डाले हैं। फिर भी इसे कोई भारी दोष नहीं मान सकते, क्योंकि थोड़ा सा ध्यान देते ही विषय स्पष्ट हो जाता है।

दूरान्वय के संबंध में भाषावाले प्रकरण में कुछ लिखा जा चुका है। बिहारी में दूरान्वय कहीं कहीं है अवश्य, पर शब्दावली ऐसी गठी हुई है कि अन्वय में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं पड़ता। इसलिए वह दोषों की कोटि में आता नहीं, यद्यपि साहित्य-शास्त्रियों की परख की कड़ाई के अनुसार उसे दूरान्वय में रखना ही पड़ेगा। रहा गूढ़त्व। बिहारी में दृष्टकूटक के से दोहे एकदम नहीं आए हैं, क्रियाचतुरा के कुछ उदाहरण मिलते हैं, जो सूक्ष्म, पिहित आदि अलंकारों में आया करते हैं, पर उनमें वैसी गूढ़ता नहीं है, क्योंकि बिहारी ने बहुत चलती बातें रखी हैं; जिससे किसी प्रकार की माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। हाँ, प्रसंगों की कल्पना यथास्थान ऐसी अवश्य है, जो दोहे का अर्थ जल्दी खुलने नहीं देती, इसीसे बहुत से दोहों का अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप में किया है। इसके संबंध में 'प्रसंग-विधान' वाले अध्याय में पहले ही लिखा जा चुका है। बिहारी की कविता में व्यापक दोष, यदि माना जाय तो, यही होगा। साहित्यिक परंपरा से अपरिचित व्यक्ति कितने ही दोहों को सामने रखकर व्यर्थ ही परेशान होता रहेगा। साहित्य का अच्छा अध्ययन होने पर, नायक-नायिकाभेद की पूरी जानकारी कर लेने पर और शृंगार की परंपरा और रूढ़ियों को भली भाँति जान लेने पर ही बिहारी के बहुत से दोहों का अर्थ खुल सकता है, अन्यथा आप लाख चिल्लाते रहिए, उनका अर्थ साधारण लोग नहीं समझ सकेंगे। इसीलिए सतसई का प्रचार साधारण जनता में उतना न होकर परिष्कृत विद्या-बुद्धिवाले लोगों के बीच ही अधिक हो सका है।

जिस चुस्त रचना में न्यूनपदत्व भी नहीं आने पाया है, उसमें अधिकपदत्व, कथितपदत्व आदि दोषों की संभावना करना व्यर्थ की बात है। पर लक्षण-शास्त्रियों ने बिहारी में भी अधिकपदत्व दोष निकाल ही लिया है[1]—

लपटी पुहुप-पराग-पट सनी स्वेद-मकरंद।
आवति, नारि नवोढ़ लौं, सुखद बायु गतिमंद॥—३६२।

'पराग' पुष्परज को ही कहते हैं, इसलिए 'पुहुप' शब्द कहने की आवश्यकता नहीं। जैसे 'सुनना' कहने का तात्पर्य ही होता है 'कान से सुनना', 'देखना' का तात्पर्य ही होता है 'आँख से देखना'।

परिहार में यदि कोई कहना चाहे तो कह सकता है कि 'पराग' का अर्थ 'पुष्परज' ही होता है, पर उसका प्रयोग अन्य धूलियों के लिए भी होने लगा है। यदि यह भी न हो तो जिस प्रकार 'कान से सुनना' का अर्थ 'ध्यान से सुनना' माना जाता है, 'आँख से देखना' का अर्थ 'गौर से देखना, प्रामाणिकता के साथ देखना' आदि होता है—जैसे 'यह घटना आँखों देखी है'; उसी प्रकार 'पुहुप-पराग' में 'पुहुप' का अर्थ होगा सुगंध से युक्त'। बिहारी ने इस दोहे में शीतल, मंद, सुगंध तीनों प्रकार के समीरों का कथन बड़ी खूबी से कर दिया है। 'पुहुप-पराग' सुगंध के लिए, 'सनी मकरंद' शीतल के लिए और 'गतिमंद' मंद समीर के लिए संकेत करता है।

इसी प्रकार एक पतत्प्रकर्ष दोष भी बिहारी के एक दोहे में दिखाई पड़ता है—

कहा कुसुम, कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति॥—५२२।

यहाँ कुसुम या कुमुद की उज्ज्वलता के बाद, चाँदनी की उज्ज्वलता और फिर शीशे की उज्ज्वलता का कथन है। श्वेत पुष्प और चाँदनी की उज्ज्वलता का नाम ले लेने के बाद शीशे की उज्ज्वलता का नाम लेना प्रकर्ष से पतन है। चाँदनी की उज्ज्वलता के समक्ष शीशे की

१. काव्य-कल्पद्रुम, पृष्ठ ५२६।

उज्ज्वलता साधारण है। पर यदि कोई चाहे तो परिहार के लिए कह सकता है कि कुसुम का कथन कोमलतायुक्त उज्ज्वलता के लिए, चाँदनी का कथन शीतलतायुक्त उज्ज्वलता के लिए और शीशे का कथन चिक्कणता-युक्त उज्ज्वलता के लिए है। यदि इस प्रकार तीन प्रकार की विशिष्ट सफेदियाँ मानी जायँ तो किसी प्रकार के क्रम की वैसी आवश्यकता न रहेगी। नायिका की गोराई में तीनों विशेषताएँ कवि मानते भी आए हैं। यदि यह बात नहीं है तो शास्त्र की दृष्टि से अवश्य दोष माना जायगा।

इसी ढंग का क्रम का भंग भी एक स्थान पर दिखाई पड़ता है—

> इहिं बसंत न, खरी अरी गरम, न सीतल बात।
>
> कहि त्यौं झलके देखियत पुलक पसीजे गात॥—५७४।

इस दोहे में कहा यह गया है कि वसंत की वायु न अत्यंत गर्म है और न शीतल हो, फिर तेरे शरीर पर रोमांच और पसीना क्यों दिखाई पड़ रहे हैं। गर्मी के कारण पसीना हुआ करता है और ठंढ के कारण रोमांच। पहली पंक्ति में 'गरम' का कथन पहले है और 'सीतल' का बाद में, इसी क्रम से पसीने (पसीजे गात) का उल्लेख प्रथम और पुलक का बाद में होना चाहिए। पर ऐसा न होने से इसमें 'दुष्क्रम' दोष माना गया है।[1] एक तो यहाँ, यदि दोष माना ही जाय तो, 'दुष्क्रम' दोष नहीं होगा, केवल 'क्रमभंग' दोष होगा जो साधारण दोष है और जिसके उदाहरण तुलसी आदि में भी मिलते हैं। दुष्क्रम दोष वहाँ होता है जहाँ कथन के क्रम में लोक या शास्त्र-प्रसिद्ध क्रम का विपर्यय या उलटफेर हो जाय। यदि कोई किसी के यहाँ द्रव्य माँगने जायगा तो कहेगा कि आप मुझे एक अशर्फी दीजिए अथवा एक रुपया ही दे दीजिए। पर यदि वह यह कहे कि आप मुझे एक रुपया दे दीजिए अथवा एक अशर्फी ही दे दीजिए, तो यहाँ दुष्क्रम होगा। अधिक मूल्यवाली वस्तु अशर्फी का नाम पहले आना चाहिए।

पर दोहे में ऐसी बात नहीं है, केवल जिस क्रम से ऊपर बात कही गई है, उस क्रम से उससे संबंध रखनेवाली बातें नीचे नहीं हैं। इससे

---

१ काव्य-कल्पद्रुम, पृष्ठ ५३४।

यह अक्रम या क्रमभंग दोष कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि इसका परिहार भी खोज लेना कठिन नहीं है। दूसरी पंक्ति पर ध्यान देने से पता चलेगा कि जिस प्रकार रोमांच का कथन है उसी प्रकार पसीने का कथन नहीं है। बल्कि उस पंक्ति का सीधा अन्वयार्थ यह है कि 'पसीजे गात में पुलक क्यों दिखाई पड़ रही है।' अर्थात् 'गात' सप्तमी में है और पसीजे उसका विशेषणमात्र है। इसलिए अन्वय से ही वह दोष दूर हो जाता है। यदि 'पुलक पसीनौ गात' के ऐसा कोई पाठ होता तो दोष निश्चित माना जाता।

अलंकार के कुछ शास्त्रीय दोष बिहारी में और पाए जाते हैं, जो कुछ लोगों के अनुसार बिहारी ऐसे समर्थ कवि के काव्य में न होने चाहिएँ। उपमा या रूपक में उपमेय-उपमान की समता के विचार से यह नियम रखा गया है कि उपमेय का जो लिंग-वचन हो उपमान का भी वही होना चाहिए। इसलिए स्त्रीलिंग उपमेय का उपमान स्त्रीलिंग होगा, पुंलिंग नहीं। एकवचन उपमेय का उपमान भी एकवचन ही होगा, बहुवचन नहीं। अथवा इसके विपरीत पुंलिंग उपमेय का उपमान पुंलिंग ही होगा, स्त्रीलिंग नहीं आदि। पर बिहारी में इसका व्यतिक्रम कई जगह मिलता है—

> रह्यौ ऐंचि, अंतु न लहै अवधि-दुसासनु बीरु।
> आली! बाढ़तु बिरहु ज्यौं पंचाली कौ चीरु॥—४००।

अवधि उपमेय है और 'दुःसासनु' उपमान। अवधि स्त्रीलिंग शब्द है और दुःशासन पुंलिंग। इसलिए इनमें उपमेय-उपमान-भाव की स्थापना या रूपक बाँधना एक प्रकार का अलंकार-दोष हो गया।

इसी प्रकार का दूसरा दोहा यह है—

> बिरह-बिथा-जल-परस-बिन बसियत मो-मन-ताल।
> कछु जानत जलथंभ-बिधि दुर्योधन लौं लाल॥—४१४।

इस दोहे में भी 'व्यथा' स्त्रीलिंग उपमेय का उपमान जल पुंलिंग रखा गया है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग इसमें एक दूसरा दोष और निकालते हैं। उनका कहना है कि बिरह या बिरह-व्यथा की दाहकता ही काव्य में प्रसिद्ध है। इसलिए 'बिरह-व्यथा' का रूपक जल से बाँधना

साहित्यिक अपराध है। पर यह कोई बड़ी भारी गलती नहीं कही जा सकती। विरह-व्यथा की दाहकता का उल्लेख न करके यदि कहीं कवि उसकी शीतलता की व्याख्या करने लगता कि 'वाह! विरह की व्यथा कितनी शीतल होती है, हिम की भाँति' आदि, तब तो वह दोष का भागी माना जाता; पर रूपक के लिए ऐसा प्रतिबंध नहीं है। तुलसीदासजी ने तो क्रोध का रूपक नदी से बाँध दिया है, यद्यपि 'क्रोधाग्नि' बहुत प्रसिद्ध है—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी॥

—रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

इतना ही नहीं, यह रूपक भी दूर तक गया है। इसके अतिरिक्त कवि यदि 'विरह-व्यथा' पर दृष्टि रखता है तो केवल विरह की वह्नि ही नहीं दिखाई पड़ती, आँखों के आँसू भी नजर आते हैं। इसीलिए वह मन-ताल (मानस) तक दौड़ जाता है, जहाँ से वे आँसू उठते हैं। कवि ने सचमुच आँसुओं को ही ध्यान में रखकर यह दोहा लिखा होगा। इसीलिए यह दोष नहीं, गुण है। नायिका यह व्यंजित करना चाहती है कि मैं तो आपका बराबर ध्यान करती हूँ और आपके विरह में व्यथित होकर आँसू बहाया करती हूँ और आप वहाँ मेरी चिंता ही नहीं करते। आपको व्यथा का लेश भी नहीं, आप मेरी दशा पर भी आँसू नहीं बहाते, मेरे लिये दुःख करना तो दूर की बात है।

एक प्रसिद्ध दोहा और देखिए—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किएँ नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ॥—६४८।

यहाँ पर कटि को ब्रह्म की पर (शत्रु या प्रतिद्वंद्विनी) कहा गया है। आर्थी उपमा में 'सी, समान' आदि वाचक नहीं आते, 'शत्रु, प्रतिद्वंद्वी, मित्र' आदि के द्वारा अर्थ से समता का बोध होता है। तात्पर्य यह कि 'कटि' की समता ब्रह्म से यहाँ भी है। उपमेय और उपमान में लिंग का व्यत्यय तो है ही, साथ ही कमर के पतलेपन के लिए बेचारे ब्रह्म तक को घसीटना कम से कम धर्मबुद्धिवालों को तो बहुत ही बुरा जान पड़ेगा। यह सब भी न हो, तो भी दोहे में दूर की सूझ भले ही मानी

जाय पर कमर का वर्णन क्या है यह किसी तरह समझ में नहीं आता।

बिहारी की कविता के जिन दोषों का उल्लेख ऊपर किया गया है वे बहुत साधारण हैं, दूसरी बात यह है कि और कवियों ने भी बराबर ऐसा किया है। उपमा या रूपक में लिंगवचनादि का व्यत्यय बराबर मिलता है; संस्कृत के कवियों में भी और हिंदी के कवियों में भी। ऊपर उद्धृत तुलसीदासजी की चौपाई में 'रोष' पुंलिंग है और तरंगिणी स्त्रीलिंग। इसीलिए कोई कोई पुराने आचार्य इस दोष के विषय में यह एलान कर गए हैं—

न लिङ्गवचने भिन्ने न न्यूनाधिकतेऽपि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥[१]—काव्यादर्श।

बिहारी की कविता में बहुत से लोगों ने फालतू दोष भी दिखलाए हैं। इन सबका निराकरण पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपनी 'बिहारी सतसई की भूमिका' में बड़े चुलबुले ढंग से, पर विद्वत्ता और पांडित्य के साथ, किया है। तात्पर्य यह कि बिहारी के बहुत से दोष तो वस्तुतः दोष ही नहीं हैं। 'निरंकुशाः कवयः' वाली बात ही अगर मान लें तो न जाने कितने दोषों का परिहार हो जाय। 'निरंकुश' कहने की भी आवश्यकता नहीं, यदि केवल परंपरा से ही मिलान कर लिया जाय तो बिहारी की कविता में निकाले जानेवाले कितने ही दोषों का परिहार हो जाता है। जब किसी बात की एक परंपरा चल पड़ती है तो उसका दोषत्व स्वतः कुछ कम हो जाता है। जैसे लिंग-वचन की भिन्नता के लिए जब कवियों की परंपरा गवाही दे रही है तो लक्षण-ग्रंथकारों के लिखने पर भी उसका दोष हलका माना जायगा, या कुछ लोगों के अनुसार नहीं भी माना जा सकता। लिंग आदि की भिन्नता में क्षोभ वहीं होता है जहाँ चेतन प्राणी के लिंग का व्यत्यय हो। अचेतन या जड़ पदार्थों के लिंग का व्यत्यय उतना नहीं खटकता। इन सब विचारों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिहारी की कविता एक प्रकार से बहुत निर्दोष है।

---

१. उपमा में (उपमेय एवं उपमान के) लिंग या वचन में भिन्नता या न्यूनाधिकता होना कुछ नहीं; यदि वह बुद्धिमानों के लिए उद्वेग करनेवाली नहीं है तो वहाँ उपमादोष नहीं होगा।

बिहारी का प्रभाव

बिहारी का प्रभाव हिंदी-साहित्य पर बहुत जबर्दस्त पड़ा। उन्होंने बिहारी-सतसई की रचना करके कितने ही कवियों में सतसई लिखने का लोभ उत्पन्न कर दिया। उनके बाद शृंगार की कितनी ही सतसइयाँ रची गईं—मतिराम-सतसई, शृंगार-सतसई, विक्रम-सतसई आदि। किसी-किसी ने 'हजारा' भी लिखा, जैसे 'रतन-हजारा'। नौसई और ग्यारह-सई भी लिख गईं, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। पर सतसई नाम में कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण हो गया और उसके लिए दोहा छंद कुछ ऐसा निश्चित हो गया कि अब भी लोग बराबर सतसई-ग्रंथ लिखते चले जा रहे हैं। ब्रज भाषा में ही नहीं, लोग खड़ी बोली में भी सतसई लिख रहे हैं और वही दोहा छंद चला चल रहा है। यद्यपि जो सतसइयाँ—ब्रज में या खड़ी बोली में अब लिखी जा रही हैं—वे सब शृंगार की सतसइयाँ नहीं हैं, पर अधिकांश में शृंगार का वही पुराना पचड़ा है।

बिहारी सतसई का काव्य-जगत् में इतना प्रचार और आदर हुआ कि बिना उसे पढ़े कोई पूरा साहित्यिक ही नहीं समझा जाता था। बिहारी के बाद होनेवाले प्रसिद्ध से प्रसिद्ध कवियों तक ने उसपर टीकाएँ लिखीं। उस ग्रंथ में, उस रत्न की राशि में क्या गुण हैं, उसमें कैसी चमक है, उसमें कैसी-कैसी अनोखी बातें हैं, इनको दिखाने के लिए अनेक कवियों का मन लालायित हो उठा। इसलिए प्रत्येक दशक के बाद हमें नये रंग-ढंग से बिहारी की टीका मिलती है; पुरानी टीकाओं से संतोष ही नहीं होता था। आधुनिक समय में भी हिंदी के तीन महा-रथियों ने उस ग्रंथ की अपने अपने ढंग की टीकाएँ लिखी हैं। कुछ लोग और कुछ न कर सके तो दोहों पर कुंडलिया ही बाँधने लगे। भारतेंदु बाबू तक ने कुंडलियाँ बाँधी हैं, पर वे अधूरी हैं। जिस ग्रंथ का इतना अधिक पठन-पाठन और अनुशीलन हुआ हो उसका प्रभाव काव्य-जगत् पर पड़े बिना नहीं रह सकता। महात्मा तुलसीदासजी के 'रामचरित-

मानस' को छोड़कर हिंदी में ऐसा कोई दूसरा काव्य-ग्रंथ नहीं दिखाई पड़ता जिसका इतना अधिक मंथन हुआ हो। रामचरितमानस पर भक्त-संप्रदाय और व्यास-संप्रदाय का धावा हुआ तो बिहारी-सतसई पर रसिक-संप्रदाय और कवि-संप्रदाय का। जिस प्रकार मानस के अनोखे अर्थ किए गए उसी प्रकार बिहारी-सतसई के भी। मानस की कविता को एक कृष्णोपासक महात्मा कृष्ण-परक ही लगाया करते थे, बिहारी की कविता के भी वैद्यक-परक अर्थ लगानेवाले सुने जाते हैं। अभी थोड़े ही दिन की बात है कि स्वर्गीय लाला भगवानदीन उसका शांतरस-परक अर्थ लगा रहे थे। बिहारी-सतसई को लेकर अपना-अपना चमत्कार दिखाने का लोगों को खूब मौका मिला और लोगों ने इसका खूब रस लूटा; उस तरह भी और इस तरह भी। वह ऐसा वाक्सिद्ध कवि था, ऐसा प्रभाव-कारी रचयिता था कि लोगों के हृदय में घर करके बैठ गया। आज भी बिहारी-सतसई का वैसा ही मान है, जैसा सैकड़ों वर्ष पूर्व था, आज भी रसिक उसकी आनंद-लहरी में डुबकियाँ लगाते हैं। जब तक हिंदी भाषा रहेगी, बिहारी-सतसई का मान इसी रूप में रहेगा। शृंगार का विरोध करनेवाले युग में भी उस सतसई का इतना मान बतलाता है कि उसमें कोई विशेष बात है, उसमें कोई ऐसी खूबी है जो अन्य ग्रंथों, अन्य सत-सइयों में नहीं है।

बिहारी के इस प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि केवल उनकी होड़ में बननेवाली सतसइयों में ही नहीं, अन्य कवियों की कविता में भी उनके भाव और भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। बिहारी की-सी जबाँदानी प्राप्त करने या दिखाने का बहुतों को हौसला हुआ, उनके भावों पर कुछ कहने-सुनने की उन्हें भी लालसा हुई। इसीलिए लोग बिहारी के भावों को कहीं तो कुछ बदल कर ही रखते रहे और कहीं बड़े बड़े छंदों में पल्लवित करते रहे, खोलते रहे। उनकी भाषा की शब्दावली का प्रयोग, उनके बँधे हुए पदों का व्यवहार, अपनी भाषा में सजीवता लाने के लिए, वे बराबर करते दिखाई देते हैं। भाषा और भाव ही नहीं, उनकी शैली भी बहुतों ने ग्रहण की। कहने का तात्पर्य यह कि बिहारी में जो जो

विशेषताएँ, जो जो गुण पाए जाते हैं, उन्हें जिसने जिधर से नोचा उधर ही से नोच लिया। उसका उपयोग उन्होंने कैसा किया यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, पर हिंदी के परवर्ती कवियों में से बहुत-से प्रसिद्ध कवि बिहारी की कविता से पर्याप्त प्रभावित हैं। बिहारी के प्रभाव को थोड़ा प्रत्यक्ष करने के लिए नीचे उदाहरण दिए जाते हैं—

सबसे पहले सतसइयों को लीजिए। यह कहने की आवश्यकता अब नहीं रह गई है कि ये सतसइयाँ बिहारी की देखा-देखी और होड़ में बनी हैं। इन सतसइयों में बिहारी के भाव कहीं-कहीं ज्यों के त्यों लेकर रखे गए हैं, यहाँ तक कि शब्दावली भी। तुलनात्मक समालोचना हमारा उद्देश्य नहीं, हम केवल यही दिखलाना चाहते हैं कि बिहारी की नकल कैसी हुई अथवा उनका प्रभाव कैसा पड़ा। जिसे तुलनात्मक समालोचना का मजा लेना हो उसे पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-सतसई की भूमिका' देखनी चाहिए। यद्यपि तुलना करने में उन्होंने कहीं कहीं ज्यादती भी की है, पर उनकी आलोचना साहित्य की सरणि को लेकर चली है, हाँ उसकी पद्धति अवश्य लपक-झपकवाली ही है। जो भी हो पुस्तक में तुलनात्मक समीक्षा साहित्य-मर्मज्ञता के साथ की गई है, इसमें संदेह नहीं।

सतसइयों में कालक्रम से सबसे पहला नाम 'मतिराम सतसई' का आता है। मतिराम का समय बिहारी के समय के कुछ ही पीछे पड़ता है। इसीसे कुछ लोगों का कहना है कि मतिराम की सतसई में बिहारी का अनुकरण नहीं है। पर मतिराम-सतसई को देखने पर इस कथन की पुष्टि नहीं होती। सबसे पहले तो मतिराम की भाषा ही बिहारी से मिलती हुई है, यद्यपि दोनों में पूरब पश्चिम का भेद स्पष्ट लक्षित हो जाता है। इसके अतिरिक्त उनकी कविता में कितने ही दोहे ऐसे हैं जो इस बात की सूचना देते हैं कि इनके रचनेवाले ने बिहारी-सतसई देखी है या बिहारी के दोहे सुने हैं। उस समय बिहारी के दोहों का प्रचार बड़ी तेजी के साथ हो रहा था, इसलिए यह पूर्णतया संभव है कि मतिराम ने उन दोहों में से बहुतों को सुना हो, बिहारी की ही तर्ज पर

लिखी हुई उक्त सतसई तो यहाँ तक कहती है कि उन्होंने पूरी सतसई देखी होगी। कुछ मिलते हुए दोहे देखिए—

कहत सबै बेंदी दियैं, आँकु दसगुनौ होतु।
तिय-लिलार बेंदी दियैं, अगिनितु बढ़तु उदोतु ॥—३२७।

होत दसगुनो अंकु है, दिये एक ज्यों बिंदु।
दियैं डिठौना यौं बढ़ी, आनन-आभा इंदु ॥—मतिराम-सतसई ६८।

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंत ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥—६१०।

मानत लाज-लगाम नहिं, नैकु न गहत मरोर।
होत लाल लखि बाल के दृग-तुरंग मुँहजोर ॥—मतिराम-सतसई, ३७३।[1]

मतिराम-सतसई के बीसियों दोहे बिहारी के दोहे से मिलते हैं, सबका उदाहरण देना संभव नहीं है। ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं उन्हीं से पता चल सकता है कि बिहारी का अनुकरण मतिराम ने कितना किया है। पर मतिराम एक प्रवीण और समर्थ कवि थे इसलिए उन्होंने बिहारी के भावों को बड़े अच्छे ढंग से ग्रहण किया है। उनका भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार था। मतिराम-सतसई के दोहे सचमुच बहुत उत्कृष्ट हैं, उनमें बिहारी के अधिकांश गुण मिलते हैं और साथ ही एक मुक्तक-रचना में जो विशेषताएँ होनी चाहिएँ वे भी उनमें पाई जाती हैं। भाषा की कसावट, भावों का उठान, पद्धति सब कुछ बिहारी के ढंग की ही है, इसीसे लोगों का कहना है कि मतिराम के दोहे यदि बिहारी-सतसई में मिला दिए जायँ तो लोग निःसंकोच उन्हें बिहारी का मान लेंगे। केवल संभावना ही नहीं, मतिराम के कई दोहे बिहारी के नाम पर चल भी पड़े हैं, जैसे निम्नलिखित दोहा, जो स्पष्टतया मतिराम का है, बिहारी-सतसई की कई टीकाओं में पाया जाता है—

झूठैं हीं ब्रज में लग्यौ मोहिं कलंक गुपाल।
सपनैं हूँ कबहूँ हियैं लगे न तुम नँदलाल ॥

---

१. यह दोहा मतिराम के 'ललित-ललाम' में भी है। मतिराम-सतसई में उनके ललित-ललाम और रसराज के अधिकांश दोहे रखे हुए हैं।

अब शृंगार-सतसई के कुछ दोहे देखिए। भाव भी वे ही हैं, भाषा की नकल भी है—

जदपि चवाइनु चीकनी चलति चहूँ दिसि सैन।
तऊ न छाँड़त दुहुन के हँसी रसीले नैन ॥—३३६।
घरहाइन चवचैं चलैं, चातुर चाइन सैन।
तदपि सनेह-सने लगैं, ललकि दुहूँ के नैन ॥शृंगार-सतसई—४७१।
लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥—३४७।
सगरब गरब खिचै सदा, चतुर चितेरे आय।
पर वाकी बाँकी अदा, नेकु न खींची जाय ॥शृंगार-सतसई—४७८।

देखने से असल और नकल का अंतर साफ मालूम पड़ता है। कुछ लोगों ने कहा है कि यह सतसई रंग-ढंग और प्रौढ़ता में बिहारी-सतसई के टक्कर की है; यदि बिहारी-सतसई में इसके दोहे रख दिए जायँ तो वे बिहारी के नाम पर बड़े मजे में चल सकते हैं। जो भी हो, भाषा की सफाई शृंगार-सतसई में वैसी नहीं दिखाई देती जैसी बिहारी-सतसई में है। बिहारी की नकल करने के कारण बिहारी के शब्द और पद-समूह इसमें भरे पड़े हैं।

कुछ उदाहरण बिक्रम-सतसई के भी देखने चाहिएँ—

ललित स्याम लीला, ललन, बढ़ी चिबुक छबि दून।
मधु-छाक्यौ मधुकरु पर्‌यौ, मनौ गुलाब-प्रसून ॥—२७०।
अति द्युति ठोढ़ी-बिंदु की, ऐसी लखी कहूँ न।
मधुकर-सुनु छक्यौ पर्‌यौ, मनौ गुलाब-प्रसून ॥—विक्रम-सतसई।
लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥—६१०।
चपल चलाकिन सौं चलत, गनत न लाज-लगाम।
रोकै नहिं क्योंहूँ रहत, दृग-तुरंग गति बाम ॥—विक्रम-सतसई, २६५।

जिस प्रकार शृंगार-सतसईकार ने बिहारी की जोड़-तोड़ लगाई है,

इसी प्रकार बिक्रम-सतसईकार ने भी। इनकी भाषा में भी वह प्रौढ़ता नहीं आई है। बिहारी की पदावली लेने से ये भी बाज नहीं आए हैं।

कुछ उदाहरण 'रतन-हजारा' से देकर अन्य कवियों की कविता पर पड़नेवाले प्रभाव पर विचार किया जायगा—

पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल॥—२२।

देत जताये प्रगट जो जावक लाग्यौ भाल।
नवनागरि के नेह सौं भले बने हौ लाल॥—रतन-हजारा, ८६६।

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास॥—७३।

कुहू-निसा तिथिपत्र में बाचन कौ रहि जाइ।
तुव मुख-ससि की चाँदनी उदै करत है आइ॥—रतन-हजारा, १९७।

'रतन-हजारा' के पचासों दोहे बिहारी के भाव में फेर-फार करके बने हैं। बिहारी के ही भाव नहीं, तुलसी, रहीम, केशव आदि अन्य कवियों के भाव भी इसमें उसी प्रकार गृहीत हुए हैं। 'रसनिधि' पर बाहरी रंग अधिक चढ़ गया था। कहीं-कहीं तो भाव और भाषा दोनों में उर्दू के जबाँदानों की भद्दी नकल दिखाई पड़ती है।

अब सतसइयों को छोड़कर अन्य कवियों की कविता पर बिहारी का प्रभाव देखना चाहिए। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बिहारी के बाद कितने ही कवियों ने उनका अनुगमन किया, उनकी शैली पकड़ी। सबका नाम गिनाना या सबकी कविता के उदाहरण प्रस्तुत करना अभीष्ट नहीं। इसलिए केवल तीन कवियों को ही सामने रखते हैं—रसलीन, पद्माकर और रत्नाकर। रसलीन ने केवल दोहों ही में रचना की है। उनकी रचना प्रौढ़ है, भाषा भी अच्छी है। उर्दू का वैसा प्रभाव उनकी कविता पर नहीं है जैसा रसनिधि में पाया जाता है। इनके कितने ही दोहे इसी गुण के कारण बिहारी के नाम पर चल पड़े हैं। निम्नलिखित दोहा जो बिहारी-सतसई की कई टीकाओं में मिलता है, रसलीन के 'अंगदर्पण' का है—

अमी-हलाहल-मद-भरे; स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत; जेहि चितवत इक बार ॥

रसलीन में चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य बिहारी के ही ढंग का मिलता है। बयःसंधि का एक दोहा देखिए—

तिय-सैसव जोबन मिले भेद न जान्यो जात।
प्रात-समै निसि-द्यौस के दुवौ भाव दरसात ॥

पद्माकर ने बिहारी की कविता से चित्रण की विशेषता ली है। इनमें भी चित्र खींचने की वैसी ही कुशलता दिखाई देती है। अनुभावों का जैसा विधान बिहारी ने किया है, वैसा पद्माकर में भी बराबर मिलता है। बिहारी के बाद चित्रण और अनुभाव-विधान की विशेषताएँ दो ही कवियों में विशेष रूप से पाई जाती हैं—एक पद्माकर में दूसरे रत्नाकर में। भाषा भी इन्हीं दोनों कवियों की अधिक व्यवस्थित और निश्चित प्रणाली पर चलती हुई देख पड़ती है। पद्माकर के दोहे भी बिहारी के से गढ़े गए हैं। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

कछु गज-गति के आहटनि, छिन-छिन छीजत सेर।
बिधु बिकास बिकसत कमल, कछू दिनन के फेर ॥—जगद्विनोद, २३।

पद्माकर का वाक्य-विन्यास एवं पदावली बहुत साफ है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था।

बिहारी की कविता से सबसे अधिक प्रभावित हुए स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर'। इन्होंने बिहारी की कविता का इतना अधिक मंथन किया कि वे इनकी रग-रग में व्याप्त हो गए। भाव, भाषा और शैली तीनों ही बातों में ये बिहारी के अनुगामी हैं। बिहारी के समान कसी हुई भाषा का अनुगमन करने का परिणाम यह हुआ कि कवित्तों या अन्य बड़े छंदों में भी इन्होंने बहुत बँधी हुई भाषा का प्रयोग किया। पद्माकर की भाषा उतनी जकड़ी हुई नहीं है, पर रत्नाकर की भाषा प्रायः जकड़े हुए रूप में ही मिलती है। आधुनिक युग का प्रभाव समझिए या कवि की विशेष प्रवृत्ति इन्होंने सामासिक पदावली यों ही अधिक रखी है और कहीं-कहीं तो वह बहुत लंबी हो गई है। स्तुति या वर्णन

में तो वह वैसी नहीं खटकती पर अन्यत्र वह अवश्य खटक जाती है, इसका कारण यह है कि खड़ी बोली की भाँति व्रज को अधिक समास पसंद नहीं है।

भाषा की दृष्टि से अवधी-प्रांत के कुछ कवियों ने 'व्रज' में भारी उछल-कूद मचाई थी, शब्दों का रूप वे लोग बहुत बिगाड़ने लग गए थे। इन सबका परिष्कार भारतेंदु बाबू ने किया। उन्होंने पुराने और काव्य-परंपरा से उठे हुए शब्दों को छाँट दिया, भाषा का रूप भी उन्होंने चलता ही रखा। पर रत्नाकरजी ने, बिहारी के अनुकरण के कारण समझिए या व्रज के विशेष अध्ययन के कारण, प्राचीन रूपों को फिर से चलता किया। रत्नाकर ने भाषा में व्याकरण की पूरी व्यवस्था दिखलाई और लाक्षणिक पदों का प्रयोग बढ़ाकर भाषा को संपन्न बनाया। मुसलमानी ढंग पर मुहावरों पर कलाबाजी दिखाना भी रत्नाकरजी को पसंद था। अपनी प्रौढ़ साहित्य-मर्मज्ञता, व्यापक कवि-दृष्टि और गंभीर अध्ययन के बल पर उन्होंने व्रजभाषा का स्वरूप-सुधार तो किया, पर पूर्वी प्रयोगों को वे भी न बचा सके। यों तो सामान्य-काव्य-भाषा में सभी जगह के प्रयोग आ सकते हैं, पर रत्नाकरजी ने कुछ प्रयोग और शब्द ऐसे रखे हैं जो व्रज की प्रकृति के विरुद्ध पड़ते हैं। 'संदेश' को 'सनेस' और 'अंदेशा' को 'अनेस' लिखना इसी प्रकार का है।

बिहारी से ये कितने प्रभावित हुए इसके लिए यहाँ पर कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

ग्राम-बधूटीं जुरतिं आनि तट गागरि लै-लै।
गावति परम पुनीत गीत धुनि लावति जै जै॥

धारे सहज सिंगार गात गोरे गदकारे।
बिहँसत गोल कपोल लोल लोचन कजरारे॥

सुनकिरवा की आड़ ताड़ तरकी तरपीली।
ठाढ़े गाढ़े कुचनि चिहुँटनी-माल सजीली॥

रँगे चोल-रंग चीर लगे भोडर-नग चमकत।
गृह-श्रम-संचित-स्वास्थ्य उमगि आनन पर दमकत॥

—गंगावतरण, १०—१७, १८।

मिलाइए—

गोरी गदकारी परैं, हँसत कपोलनु गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़ ॥—७०८।

कोउ अन्हाति सकुचाति गात पट-ओट दुराए।
कोउ गल बाहिर कढ़ति सु उर ऊरुनि कर लाए ॥—गंगावतरण, १०-४०।

बिहँसत सकुचति सी दिएँ, कुच-आँचर-बिच बाँह।
भीजैं पट तट कौं चली, न्हाइ सरोवर माँह ॥—६९३।

इन उदाहरणों का यह तात्पर्य नहीं कि रत्नाकरजी ने बिहारी की नकल से ही अपनी कविता को भर दिया है, उनमें अपनी स्वतंत्र उद्भावना थी, अपनी भावानुभूति थी, अपना निरीक्षण था। पर बिहारी के प्रभाव के कारण भाषा को वे कुछ पीछे खींच ले गए। लोयन, भुआल, बयन आदि प्राकृत के शब्दों का ब्रज में प्रयोग न करना भी भाषा का परिमार्जन है, पर रत्नाकरजी ने ऐसे शब्द भी रखे हैं। काव्य-भाषा से उठे हुए 'अजगुत' आदि शब्दों का व्यवहार भी भाषा को जकड़ना है।

रत्नाकरजी में भी वैसा ही सच्चा अनुभाव-विधान पाया जाया है, वैसा ही चित्रण, वैसी ही बल्कि उससे भी अच्छी लाक्षणिकता, सांकेतिक पदावली का प्रयोग आदि। बहुत से लोग आजकल अँगरेजी से उधार ली हुई लाक्षणिक पदावली का प्रयोग धड़ाधड़ कर रहे हैं, ऐसे लोगों को बिहारी, घनानंद, ठाकुर तथा रत्नाकर ऐसे कवियों का अध्ययन करके हिंदी की लाक्षणिक पदावली का प्रयोग सीखना चाहिए। घनानंद और रत्नाकर में तो ऐसे प्रयोग बहुत हैं। रत्नाकर की लाक्षणिकता में उर्दू का अधिक रंग नहीं चढ़ने पाया है।

बिहारी का ऐसा प्रभाव उनकी कविता की उन विशेषताओं की महत्ता प्रतिपादित करता है जो लोगों के हृदय को बेधनेवाली होती हैं। इसी हृदय-बेधकता को लक्ष्य करके उनके दोहों को 'नावक का तीर' कहा गया है।

सतसई-संबंधी-साहित्य

हम कई बार कह चुके हैं कि हिंदी में बिहारी-सतसई के संबंध में इतना अधिक विचार और मंथन हुआ कि बिहारी-सतसई-संबंधी एक साहित्य ही खड़ा हो गया है। इसमें सतसई की बहुत-सी टीकाएँ हैं, उसके अन्य भाषाओं में पद्यात्मक भाषान्तर हैं, दोहों के कुंडलिया, कवित्त एवं सवैया में पल्लवित रूप हैं, तुलनात्मक आलोचनाएँ हैं और फुटकर लेख हैं। टीकाएँ पुरानी व्रजभाषा के गद्य में भी हैं और आधुनिक खड़ी बोली में भी। एक टीका संस्कृत गद्य में भी है। कुछ टीकाएँ ऐसी हैं जिनमें चमत्कार के लिए कहीं वैद्यक-परक अर्थ लगाया गया है और कहीं शांतरस-परक अर्थ। टीकाओं में दोहों के विभिन्न क्रम भी हैं।

सतसई के निर्माण के बाद से ही उसकी टीकाएँ होने लगी थीं और तीन सौ वर्षों से उसपर बराबर टीकाएँ लिखी जा रही हैं। कितनी ही टीकाएँ मिलती हैं, कितनी ही अप्राप्य हैं। सतसई की टीका लिखना भी एक फैशन हो गया था और प्रत्येक युग में अच्छे से अच्छा साहित्यिक उसकी टीका लिखता हुआ देखा जाता है। एक इसी बात से बिहारी की महत्ता का पता चल जाता है।

सुभीते के विचार से पहले हम सतसई की टीकाओं की चर्चा करते हैं। सतसई की सब टीकाएँ गद्य ही में नहीं हुई हैं, कुछ पुरुषार्थियों ने पद्य में भी टीकाएँ की हैं—दोहे की टीका दोहे में। सतसई की सबसे पहली गद्य-टीका कृष्णलाल की है। इस टीका के अंत में यह दोहा है—

संवत, ग्रह, ससि, जलधि, छिति, छठ तिथि बासर चंद।
चैत मास पख कृष्ण मैं; पूरन आनंद-कंद॥

यह दोहा लालचंद्रिका आदि चार-पाँच टीकाओं में बिहारी-सतसई की समाप्ति का काल-निर्देश करनेवाला माना गया है। पर इसकी शिथिल रचना ही बिहारी की-सी नहीं जान पड़ती। सतसई की प्रामाणिक और

अधिकांश टीकाओं में यह नहीं मिलता, इससे रत्नाकरजी का अनुमान है कि यह टीका की समाप्ति के समय का निर्देश करता है। बिहारी के एक पुत्र कृष्ण कवि का नाम भी जनश्रुति में प्रसिद्ध है। लोगों का कहना है कि जिन कृष्ण कवि ने कबित्त-सवैयों में सतसई की टीका लिखी है वे ही बिहारी के पुत्र थे। पर उनका समय १७८० के लगभग है और बिहारी के समय से दूर जा पड़ता है, इसलिए रत्नाकरजी इन्हें ही बिहारी का पुत्र कहते हैं। जीवनीवाले प्रकरण में पीछे इसपर कुछ विचार किया गया है। इस दोहे के अनुसार उक्त टीका सं० १७१६ में बनी थी। यह टीका जयपुरी मिश्रित व्रजभाषा में लिखी गई है। इसके अंत में यह दोहा है—

प्रथम देवबानी हुती पुनि नरबानी कीन।
'लाल' बिहारी-कृत कथा पढ़ै सो होय प्रवीन ॥

इसमें 'लाल' टीकाकार का नाम है, बिहारीलाल कवि का नाम नहीं, क्योंकि उनका नाम इसमें बराबर बिहारीदास लिखा गया है। दोहे के दो सुसंगत अर्थ लग सकते हैं। एक तो यह कि मुक्तक-रचना पहले संस्कृत में होती थी, फिर नरबाणी (प्राकृत, अपभ्रंश, व्रज आदि) में हुई। दूसरे बिहारी-सतसई की टीका पहले संस्कृत में थी अब मैं नरबाणी (व्रज) में इसे लिख रहा हूँ। यद्यपि सतसई की एक संस्कृत गद्य टीका मिलती है, पर उक्त समय से पहले उसका पता नहीं चलता, इसलिए दूसरे अर्थ पर तबियत नहीं जमती। इस दोहे का यह अर्थ लेना कि बिहारी-सतसई पहले संस्कृत में थी, पीछे से व्रज में लिखी गई, और भी बेकिते की बात हो जाती है। इसलिए पूर्वोक्त अर्थ ही अच्छा जमता है।

टीका में वक्ता-बोधव्य का उल्लेख है और साधारण अर्थ दिया गया है। नायिकाभेद का भी उल्लेख है। इस टीका की प्रति सं० १८२० की लिखी मिलती है।

दूसरी टीका विजयगढ़ के मान कवि या मानसिंह की मिलती है। इसका निर्माण-काल सं० १७३७ के लगभग अनुमान किया जाता है। उदयपुर-नरेश महाराणा राजसिंह के दरबारी कवि मान, जिन्होंने 'राज-

बिलास' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा है, इसके टीकाकार हैं। इस टीका में सामान्य अर्थ दिया गया है। नायिका-भेद का भी सामान्य उल्लेख है। इसकी एक प्रतिलिपि सं० १७७२ की मिलती है, जिसके लिखनेबाले कोई प्रताप-विजय हैं।

तीसरी मुख्य टीका 'अनवर-चंद्रिका' है। इसकी रचना सं० १७७१ में शुभकरण और कमलनयन नामक दो कवियों ने मिल कर की है। यह टीका किन्हीं अनवर खाँ के लिए लिखी गई है, इसीसे इसका नाम 'अनवर-चंद्रिका' रखा गया है। ये खाँ साहब दिल्ली के कोई सामंत जान पड़ते हैं, जो मुलतान के रहनेवाले कहे जाते हैं। अनवर-चद्रिका में सोलह प्रकाश हैं, जिनमें से प्रथम में तो केवल आश्रयदाता का वंश-वर्णन है। शेष पंद्रह प्रकाशों में दोहे एक साहित्यिक क्रम से छाँटकर रखे गए हैं टीका में अर्थ न देकर काव्यांग की बातों पर ही विचार किया गया है—बक्ता-बोधव्य, अलंकार, ध्वनि आदि। इसमें ध्वनि की जो चर्चा उठाई गई है वह साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। इस टीका में अर्थ की जो कमी थी उसे पन्ना के कर्ण कवि ने पूर्ण करके 'साहित्य-चंद्रिका' नाम को एक अलग टीका सं० १७६४ में लिखी। ध्वनि का बिवाद इसमें अनवर-चंद्रिका की ही पद्धति पर, किंतु स्वतंत्र रूप में रखा हुआ है। प्रकरणों का क्रम भी अनवर-चंद्रिका से मिलता है।

सं० १७६४ में ही केशव के ग्रंथों के प्रसिद्ध टीकाकार कवि सूरति मिश्र ने भी अमर-चंद्रिका नाम की एक सतसई की टीका लिखी। यह टीका जोधपुर के तत्कालीन महाराज अभयसिंह के मंत्री भंडारी नाडूला अमरचंद के अनुरोध से लिखी गई थी इसी से इसका नाम 'अमर-चंद्रिका' रखा गया। इसमें अलंकारों का निरूपण पंडिताई के साथ किया गया है। अलंकारों में अनवर-चंद्रिका से इसका मत प्रायः भिन्न है। इन्होंने सारी टीका दोहों में ही की है। टीका का नमूना देखिए—

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥—६१५।

टीका

प्रश्न—बिनु प्रिय-नेह सुहाग कौ सोरु न केहूँ होइ।
उत्तर—निज सखि-बच दीठि न लगै हित पै कहत सु जोइ॥
पर्यायोक्ति, लच्छन—

छल करि साधिय इष्ट जहँ पर्य्यायोक्ति सु नाम।
कोउ न टोकै दुष्ट यह छल-बच कहि किय काम॥

काशिराज महाराज बरिबंडसिंह के सभाकबि श्री रघुनाथ बंदीजन ने भी एक टीका लिखी थी (सं० १८०२), जो मिलती नहीं। इसके बाद सं० १८०६ में ईसवी खाँ ने 'रस-चंद्रिका' नामक टीका लिखी। इसमें विशेष बात यह है कि दोहे 'अकरादि क्रम' से रखे गए हैं। अलंकारों का निर्णय भी औरों से भिन्न है। क्योंकि अलंकार का बहुत कुछ विचार दोहे के अर्थ पर भी निर्भर रहता है। अर्थ इन्होंने औरों से भिन्न किया है। टीकाकार अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ जान पड़ते हैं। अर्थ खोलने का ढंग और भाषा दोनों ही सीधे और साफ हैं। इसमें नायिका, वक्ता-बोधव्य, अर्थ और अलंकार दिए गए हैं। इन्होंने केशव की रसिक-प्रिया पर भी टीका लिखी है।

सं० १८३४ में हरिचरणदास ने हरिप्रकाश नामक प्रसिद्ध टीका लिखी। ये हरि कवि के नाम से कविता भी किया करते थे। ये केशव के भी टीकाकार हैं। इनके नाम में 'सूरि' शब्द मिलता है इससे ये जैन-मतावलंबी जान पड़ते हैं। इन्होंने ही 'सभा-प्रकाश' नामक प्रसिद्ध रीति-ग्रंथ लिखा है। यह टीका भी सरल भाषा में लिखी गई है। शब्दार्थ और भावार्थ बड़े अच्छे ढंग से समझाया गया है। अलंकार-निर्देश भी है। पर कहीं-कहीं शब्दों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले गए हैं और खींचतान से अर्थ किया गया है। यह पुस्तक भारत-जीवन प्रेस, काशी से छपी भी थी।

मनीराम नाम के एक टीकाकार ने 'प्रताप-चंद्रिका' नामक तिलक किया, जो संभवतः जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के आश्रित थे। ये प्रतापसिंह वे ही हैं जो पद्माकर कवि के आश्रयदाता और जगतसिंहजी

के पिता थे। रत्नाकरजी का कहना है कि मनीराम हम्मीरहठ के निर्माता प्रसिद्ध कवि चंद्रशेखर बाजपेयी के पिता थे। इन्होंने टीका तो कुछ की नहीं, केवल अनवर-चंद्रिका और अमर-चंद्रिका के अलंकारों की छानबीन करते रहे और नए अलंकारों तथा काव्यांगों की बिधि मिलाते रहे। इन्होंने स्वयं लिखा है—

अनवर खाँ अरु अवर तें भूषन अधिक सु जोइ।
श्री प्रताप की चंद्रिका लिखैं लिखे कबि सोइ॥

संबत् १८६१ में ठाकुर कवि ने बाबू देवकीनंदनसिंह के प्रीत्यर्थ सतसैया-वर्णार्थ टीका लिखी जिसका नाम 'देवकीनंदनटीका' भी पड़ गया है। ये ठाकुर कवि असनी के रहनेवाले थे, पर ये प्राचीन और बुँदेलखंडी ठाकुर से भिन्न हैं। टीका का नाम बतलाता है कि इन्होंने वर्णां-वर्ण का अर्थ किया है, अर्थात् बड़े विस्तार से अर्थ किया गया है। दोहों का गूढ़ार्थ खोलने में टीकाकार ने काफी परिश्रम किया है। इसके लिए प्रश्नोत्तर भी दिए गए हैं। टीका में प्रसंग-निर्देश, वक्ता-बोधव्य तथा अर्थ दिया गया है। अलंकार पर इनका अधिक जोर नहीं है।

अन्य प्रांत के रसिकों ने भी इसपर टीकाएँ की हैं। गुजरात प्रांत के श्रीरणछोड़जी दीवान ने संबत् १८६०-७० के लगभग एक टीका लिखी। इसमें शब्दार्थ, भावार्थ के साथ अलंकारों का भी निर्णय है और काव्य का तारतम्य भी दिखाया गया है। पुस्तक से टीकाकार की प्रवीणता और साहित्य में अच्छा प्रवेश सूचित होता है। पर दूर प्रांत के लोग प्रायः शब्दावली न समझ कर मनमाना पाठांतर कर लिया करते थे। यही बात दीवानजी में भी मिलती है। "मैं मिसहैं सोयो समुझि" (५९२) का रूप यह हो गया है—

मैं मिस-हाँसी यौं समुझि मुँह चूम्यौ ढिग आइ।
हस्यौ खिसानी गल रह्यौ रही गरे लपटाइ॥

इसके बाद लल्लूलालजी की लिखी प्रसिद्ध टीका 'लाल-चंद्रिका का नाम आता है। यह टीका उत्तम तो नहीं है, पर ग्रियर्सन साहब ने इसको परिश्रमपूर्वक संपादित करके, इसमें अंगरेजी की एक भूमिका

देकर और साथ ही 'भाषा-भूषण' का भी अनुवाद जोड़कर जब से प्रकाशित कर दिया इसकी और धूम मच गई। लल्लूलालजी में कुछ वैसी विद्या-बुद्धि नहीं थी। संस्कृत ये कम या एकदम नहीं जानते थे। कुछ पुस्तकें जैसे 'सिंहासन-बत्तीसी' आदि जो इन्होंने लिखी हैं, वे भी 'भाषा'-ग्रंथों से ही अनुवाद करके। लालचंद्रिका में दोहे की टीका तक हरि प्रकाश और कृष्णलाल से उड़ाई हुई है। अलंकार और शंकासमाधान अमर-चंद्रिका से उठाकर रखा हुआ है। जहाँ इन्होंने अपनी बात जोड़ने का प्रयत्न किया है वहीं धोखा खाया है। टीका की भाषा में खड़ी और ब्रज का मिश्रण है। शैली वही—वक्ता-बोधव्य, नायिका, दोहे का अर्थ, शंका-समाधान, अलंकार तथा उसका लक्षण। इसका पहला संस्करण तो लल्लूजी ने अपने ही संस्कृत प्रेस, कलकत्ता में छपवाया था (सन् १८१९ ई०), दूसरा संस्करण काशी के लाइट प्रेस से निकला। तीसरा ठाट का संस्करण ग्रियर्सन साहबवाला है, जो गवर्नमेंट प्रेस, कलकत्ता में १८९६ में छपा था। इसका एक संस्करण नवलकिशोर प्रेस ने भी छापा है, जो बहुत भ्रष्ट छपा है।

काशी के प्रसिद्ध कवि सरदार ने भी एक टीका लिखी थी और पद्माकर के पौत्र गदाधर ने भी। पर वे टीकाएँ मिलती नहीं। "लाल-चंद्रिका" की ही भाँति प्रख्यात होनेवाली एक टीका प्रभुदयाल पाँड़े की है जो सं० १९५३ में कलकत्ता के बंगबासी आफिस से निकली थी। यह टीका आधुनिक खड़ीबोली में है। इसमें दोहे का अन्वय, सरलार्थ और शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है। इसमें एक १४ पृष्ठ की भूमिका भी है जिसमें बिहारी को माथुर ब्राह्मण और कृष्ण कवि को उनका पुत्र अथवा पुत्र-निबिशेष शिष्य माना गया है। इसके बाद पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की भावार्थ-प्रकाशिका टीका का नंबर है। यह सं० १९५४ में समाप्त हुई थी। टीका में सामान्य अर्थ और अलंकार दिए गए हैं। इसके आरंभ में साहित्य-परिचय नाम से एक निबंध जोड़ा गया है जिसमें काव्य, रस-चक्र और अलंकार का थोड़े में वर्णन है। बीच-बीच में दोहे भी रखे गए हैं। रत्नाकरजी का कहना है कि एक पुराना साहित्य-परिचय

ग्रंथ था, संभवतः ये दोहे उसी में से लेकर मिश्रजी ने रख दिए हैं। व्याख्या इन्होंने अपनी रखी है। टीका में पंडिताई खर्च करते हुए विचित्र पाठ एवं अर्थ किए गए हैं। मिश्रजी सभी क्षेत्रों में अपनी कला दिखानेवाले पंडितों में से थे, आपको रामचरितमानस की टीका किसी टीका के अभाव में खूब चली। सतसई की टीका की प्रसिद्धि के कारण तो स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी थे। उन्होंने सं० १९६७ की सरस्वती में 'सतसई-संहार' नाम से इसकी बड़ी कड़ी और विनोद से भरी हुई आलोचना लिखी थी।

इसके अनंतर आधुनिक काल की तीन प्रसिद्ध टीकाओं का नाम आता है, जो इस युग के तीन प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञों द्वारा निर्मित हुई हैं। सबसे पहले स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्माजी ने 'संजीवन-भाष्य' के लिखे जाने की सूचना दी। जिसके पहले भाग में बिहारी की आलोचना और अन्य कवियों के साथ उनकी तुलना की गई है। दूसरे भाग का केवल प्रथम खंड प्रकाशित हुआ है जिसमें १२६ दोहों की टीका २८४ पृष्ठों में की गई है। पहला भाग तो सं० १९८५ में ही निकला था, पर दूसरा भाग बाद में प्रकाशित हुआ। शर्माजी के स्वर्गवास से यह भाग अपूर्ण ही रह गया। टीका में पहले प्रत्येक दोहे का संक्षेप में वक्ता-बोधव्य बतलाया गया है, फिर अर्थ है। इसके पश्चात् उसकी व्याख्या की गई है और दोहे की खूबियाँ दिखाई गई हैं। अन्य कवियों की वैसी ही या उससे मिलती-जुलती कविता भी उद्धृत की गई है और दोहे के साथ सबकी तुलना की गई है। पुराने टीकाकारों के मत भी दोहे के विषय में उद्धृत किए गए हैं। अंत में अलंकार दिए गए हैं और खंडन-मंडन भी है। शर्माजी ने जो कुछ लिखा है बड़ी सजीव भाषा में लिखा है और उन्होंने साहित्य की सरणि का भरपूर ध्यान रखा है।

दूसरी टीका स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी की 'बिहारी-बोधिनी' है। इस टीका में शब्दार्थ, प्रसंग और भावार्थ लिखे गए हैं। अंत में अलंकार-निर्णय है। विशेष बातें भी दोहे के साथ-साथ यथास्थान दी गई हैं। लालाजी ने यह टीका विशेषतः विद्यार्थियों के उपयोग के लिए

लिखी थी, इसलिए बहुत सरल भाषा में और बड़ी स्पष्टता के साथ अर्थ लिखा गया है। इन्होंने कहीं-कहीं नये अर्थ भी लिखे हैं और अंत में एक शब्दकोश भी दिया है। भूमिका में इन्होंने दिखलाया है कि बुँदेलखंडी शब्दों और अव्ययों का ठीक ज्ञान न होने से लोगों ने अर्थ में गड़बड़ियाँ की हैं। विद्यार्थियों में इस टीका का बहुत अधिक प्रचार है। यह वस्तुतः बहुत सुबोध पुस्तक है।

तीसरी टीका 'बिहारी-रत्नाकर' है जो स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने सं० १९८३ में प्रकाशित की है। इस पुस्तक के संपादन में जितना परिश्रम हुआ है और जितनी छान-बीन से यह टीका लिखी गई उतनी सतर्कता से हिंदी में दूसरी कोई पुस्तक नहीं निकली। दोहों का क्रम, उनका पाठ आदि निर्णय करने में टीकाकार ने बड़ा श्रम किया है। कोई २२ वर्ष तक 'रत्नाकरजी' बिहारी-सतसई के पीछे पड़े रहे और उन्होंने उसकी कितनी ही हस्तलिखित प्रतियाँ एवं साथ ही टीकाओं का संग्रह किया। टीका में पहले शब्दार्थ दिया गया है, फिर अवतरण और इसके बाद भावार्थ दिया है। भावार्थ में विशेषता यह है कि दोहों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ से ही उसकी पूर्ति की गई है। जो शब्द टीकाकार ने बढ़ाए हैं उन्हें कोष्ठ में रखा है। इसके बाद अंत में अकारादि क्रम से सूची दी गई है जिसमें सात प्रसिद्ध टीकाओं के पद्य-क्रम का संग्रह है। जो दोहे बिहारी के नहीं सिद्ध हो सके वे अंत में एक उपस्करण में संगृहीत कर दिए गए हैं। दोहों का अर्थ करने और अवतरणों को निकालने में रत्नाकरजी ने संस्कृत और हिंदी की पुरानी परंपरा पर पूरा ध्यान दिया है, साहित्य की लीक से वे कहीं बहके नहीं हैं। यह अन्य टीकाकारों से उनकी और विशेषता है। सतसई के एक-एक शब्द का उन्होंने ध्यान रखा है। शब्दों के व्याकरण-सम्मत स्वरूपों और कारकों के रूपों पर बहुत ध्यान दिया गया है। इसलिए यह हिंदी में बिहारी-सतसई की सबसे प्रामाणिक प्रति है। इसमें बिहारी का सबसे पहले असली चित्र भी दिया गया है, जो जयपुर में मिला था।

केवल हिंदी ही में नहीं अन्य भाषाओं में भी इसकी टीकाएँ लिखी

गई। यहाँ तक कि संस्कृत और फारसी तक में। संस्कृत की दो टीकाओं का पता चलता है; एक का उल्लेख तो श्री अंबिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी-बिहार' में किया है, पर उसके लेखक का पता नहीं चलता। उस टीका में वक्ता-बोधव्य, नायिका-निरूपण और अलंकार-निर्णय आदि ही हैं, टीका तो कुछ है ही नहीं। हाँ, उसकी भाषा बहुत सरल और चलती है, इसलिए साधारण संस्कृत जाननेवाला भी उसे समझ सकता है। दूसरी टीका का उल्लेख श्रीयुत रत्नाकरजी ने किया है। इसके लिखनेवाले का भी नाम अज्ञात है। इसमें प्रत्येक दोहे का संक्षिप्त अवतरण देकर उसके वक्ता-बोधव्य, नायिका-भेद आदि का कथन किया गया है। इसके बाद संस्कृत की टीकाओं की शैली पर दोहे के अन्वय-प्राप्त शब्दों को रखते हुए संस्कृत में अर्थ दिया गया है। यह टीका देवकीनंदन टीका का उल्था जान पड़ती है, क्योंकि एक तो इन दोनों में पूरा साम्य है, दूसरे जहाँ टीकाकार ने थोड़े में ही काम चलाया है वहाँ यह भी लिख दिया है—"अन्योप्यर्थः श्रीदेवकानन्दनटीकातोऽवगन्तव्यः।" इस टीका में टीकाकार महोदय ने संस्कृत के टीकाकारों की भाँति कहीं कहीं शब्दों की अच्छी चीर-फाड़ की है। 'उनदोहीं' का खंड 'उन दोहीं' किया गया है और लिखा गया है—" 'उन' तया 'इन' अनया च 'दो हीं' उभाभ्यामपि।"

गुजराती टीका का नाम है 'भावार्थ-प्रकाशिका' और इसके रचयिता हैं श्रीसवितानारायण कवि। इसका निर्माण-काल सं० १९६९ है। टीकाकार ने 'प्रकाशिका' के लिखने में पूरा परिश्रम किया है। इसमें सरल गुजराती भाषा में प्रत्येक दोहे के वक्ता-बोधव्य, अर्थ और अलंकार दिए गए हैं। एक अच्छी-सी भूमिका भी इसके साथ लगी हुई है, जिसमें का अधिकांश 'बिहारी-बिहार' से लेकर रखा गया है। पर विचार उन्होंने स्वतंत्र किया है।

श्री जोशी आनंदीलाल शर्मा ने हिजरी सन् १३१४ में (सन् १८९५ या सं० १९५२ के लगभग) फारसी में इसकी एक टीका की। आप अलवर की राजसभा के सभासद थे। टीका का नाम है 'सफरंगे

सतसई'। इसमें दोहे की निज-मति-अनुसार टीका मात्र की गई है। अनुवाद समझ के साथ किया गया है, पर भावों के स्पष्ट करने में वह समर्थ नहीं है। 'मेरी भव-बाधा' का अर्थ आप यों फरमाते हैं—

"तमामे तस्दीक़ाते दुनियावी मरादूर कुनेद। ऐ राधा होशमंद आँकि अज़ उफतादने अक्से तन ऊ कि मिस्ले जाफ़रानस्त, रंग सियाहे कान्ह सरसब्ज़ मीशवद याने अज़ मुलाक़ाते अ काइ खुशवक्त मीशवद।"

यहाँ तक गद्य में लिखी टीकाओं का विवरण दिया गया। अब पद्य में लिखी टीकाओं का हाल सुनिए। पद्य में लिखी टीकाएँ वस्तुतः टीकाएँ नहीं हैं। उनमें या तो बिहारी के भाव पल्लवित किए गए हैं, जैसे कवित्त, सवैया, कुंडलिया आदि बड़े छंदों में, अथवा यदि अन्य भाषा में उन्हें दिखाना हुआ है तो मूल के भावों की रक्षा करते हुए केवल अनुवाद कर दिया गया है—जैसे संस्कृत और उर्दू में। पद्य में सच पूछिए तो एक ही टीका थी जो सूरति मिश्र ने दोहों में लिखी थी। उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। सुभीते के विचार से हम ंदों के से ही इनका उल्लेख करते हैं। पहले कुंडलियोंवाले तिलकों को लीजिए, क्योंकि दोहों को कुंडलियों में ढालनेवाले बहुत-से कवि हुए हैं। कुंडलियों का तिलक सबसे प्रथम पठान सुलतान का मिलता है, पर यह पूरा नहीं मिलता। यह सं० १७६१ के आस-पास बना था। इस ग्रंथ के संबंध में लोगों का अनुमान है कि यह पूरा बना ही नहीं था, पर 'शिवसिंह-सरोज' से पठान सुलतान के संबंध में चंद्र कवि के एक सोरठे से इसके पूरे बनने की बात का पता लगता है—

देस मालवा माँहि, कुंडलियाँ करि सतसई।
हरि-गुन अधिक सराहि, चंद्र कवी सुरतिहि सभा॥

इसकी केवल पाँच कुंडलियाँ मिलती हैं, और ४–५ लोगों के मुँह से भी सुनी जाती हैं। पठान सुलतान की कुंडलियों की परंपरा से बड़ी प्रशंसा सुनी जाती है, ये वस्तुतः बड़ी मधुर और रोचक हैं। नमूने के लिए एक यहाँ दी जाती है—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ॥
स्यामु हरित-दुति होइ, कटै सब कलुष-कलेसा।
मिटै चित्त कौ भरमु रहै नहिं कछुक अँदेसा॥
कह पठान सुलतान कटै जम-दुख की बेरी।
राधा बाधा हरौ सदा बिनती सुनि मेरी॥

कुंडलिया बाँधनेवाले दूसरे शख्स हैं नव्वाब जुल्फिकार अली। कुछ लोग इन्हें पुराना व्यक्ति मानते हैं, पर ग्रंथ के अंत में एक दोहा दिया गया है जिसमें 'गुन नभ ग्रह अरु इंदु' लिख कर संवत् व्यक्त किया गया है। इससे इसका निर्माण-काल सं० १६०३ ठहरता है। इनकी कुंडलियाँ साधारण हैं। इन्होंने सोरठों और कुछ दोहों पर 'छंद-अवरोध' कहकर कुंडलियाँ नहीं बाँधीं। नमूने के लि इनकी भी रचना देख लीजिए—

पार्‍यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥
कै अलसौंहीं देह खिसौंहीं सी कै ठाढ़ी।
प्रीति जनावति अधिक रीति रति की जो गाढ़ी॥
गाढ़ी करि अँग आँगि घाघरौ घनो बिगार्‍यौ।
हार्‍यौ हियौ दिखाइ अनोखौ आनँद पार्‍यौ॥

एक कुंडलिया बाँधनेवाले ईश्वरीप्रसाद कायस्थ हैं, पर उनका ग्रंथ ही नहीं मिलता। चौथे व्यक्ति प्रसिद्ध अंबिकादत्त व्यास हैं। इन्होंने दोहों पर कुंडलियाँ बाँधकर 'बिहारी-बिहार' नाम से छपवाया है। इसमें प्रत्येक दोहे पर कहीं तो एक और एक से अधिक कुंडलियाँ लगाई गई हैं। इनकी कविता अच्छी और पांडित्यपूर्ण है। पर छंदों के साँचे में शब्दों को ढालने का इनका प्रकार उतना अच्छा नहीं था। व्यासजी ने ग्रंथ में एक लंबी भूमिका भी दी है। इसमें 'उपोद्‌घात' शीर्षक में तो कवि की आलोचना है, फिर उसके बाद बिहारी के समय और वंश के विवाद को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। तत्पश्चात् बिहारी-सतसई के दोहों

के विभिन्न क्रमों पर विचार किया गया है और अंत में सतसई के व्याख्याकारों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। तात्पर्य यह कि आपने बिहारी-संबंधी साहित्य के लिए परिश्रम करके पर्याप्त सामग्री एकत्र कर दी है। व्याख्याकारों का आपने यथाप्राप्त चरित्र भी विस्तार से दिया है। पुस्तक के पीछे कठिन शब्दों की विवृति दी गई है और दस प्रसिद्ध टीकाओं की क्रम-संख्या अकारादि क्रम के अनुसार जोड़ी गई है। आपने अपना वृत्तांत भी जोड़ दिया है। उदाहरण के लिए एक दोहे पर इनकी कुंडलियाँ दी जाती हैं—

कितो न गोकुल कुलबधू काहि न किहिं सिख दीन।
कौने तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन॥
लीन भई क्यों अरी नवेली नारि छबीली।
चारि दिना तें आइ भई एती गरबीली॥
कान आँगुरी देइ भागु ह्वैहै पुनि आकुल।
सुकवि देखु बिललात गोपिका किती न गोकुल॥

(२)

ह्वै मुरली-सुर-लीन लखहु पसु-पंछी मोहत।
सुरी किन्नरी आदि टकटकी बाँधे जोहत॥
मंत्र बसीकर फूँकि करत हरि सबकौं आकुल।
सुकवि भटकती फिरत गोपिका किती न गोकुल॥

बिहारी के दोहों का विस्तार कुंडलियाँ में करनेवाले एक पटने की सिख-संगत के महंत साहबजादे बाबा सुमेरसिंह भी हैं। ये भी उसी समय के लगभग कुंडलियाँ लिख रहे थे, जिस समय व्यासजी। व्यासजी के समय में इनका ग्रंथ पूरा नहीं हुआ था, पर पीछे रत्नाकरजी के कथनानुसार पूरा हो गया। ये कोई बड़े काव्य-पंडित तो थे नहीं, इसलिए इनकी कबिता उतनी कौशलपूर्ण नहीं है, पर सरस और मन को लुभानेवाली अवश्य है। नीचे एक छंद नमूने के तौर पर दिया जाता है—

सीस मुकुट कटि काछिनी कर मुरली उर माल।
एहि बनिक मो मन बसहु सदा बिहारी लाल॥
सदा बिहारी लाल करहु चरनन को चेरो।
तुहि तज अनत न जाइ कतहुँ प्रियतम मन मेरो॥
मेरो तेरो मिटै मिलै तस संगत ईस।
बिहरहुँ ह्वै उनमत्त धार ब्रजरज निज सीस॥

भारतेंदु बाबू और श्री पंडा जोखूराम की कुंडलियाँ भी बिहारी-बिहार में दी गई हैं। पर इन्होने कुछ ही दोहों पर कुंडलियाँ लगाई थीं, इन्हें पूरा न कर सके। भारतेंदु बाबू की कुंडलियाँ कैसी बनी हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं। जोखूराम ने पठान की कुंडलियाँ सुनकर कहा था कि मैं इससे उत्तम बना सकता हूँ। भारतेंदु बाबू ने एक रुपया प्रति कुंडलिया देने का वचन दिया, पर ये जो दो-चार कुंडलियाँ बना लाए; वे किसी को जँची नहीं। इसलिए फिर इन्होंने मौन-साधन किया। भारतेंदु बाबू की एक कुंडलिया नीचे दी जाती है—

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसत सुचित-अंतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ॥
प्रतिबिंबित जग होइ कृष्ण-मय ही सब सूझै।
इक संयोग बियोग भेद कछु प्रगट न बूझै॥
श्री हरिचंद न रहत फेर बाकी कछु जोहन।
होत नैन मन एक जगत दरसत जब मोहन॥

अब कवित्त-सवैयों वाली टीकाओं का विवरण सुनिए। इस प्रकार की सबसे पहली टीका कृष्ण कवि की है, जिन्होंने संवत् १७८२ में यह ग्रंथ समाप्त किया था। दोहों का अर्थ खोलने के लिये यथावसर कवित्त या सवैया दोनों का व्यवहार हुआ है। कुछ लोगों ने इन्हें भ्रमवश बिहारी का पुत्र मान लिया है। टीका में केवल कवित्त-सवैया ही नहीं हैं। सबसे पहले इन्होंने दोहे के अक्षरों की गणना और लघु-गुरु-संख्या भी दी है। साथ ही दोहे की जाति भी लिखी है। इसके बाद गद्य में वक्ता-बोधव्य और नायिका-भेद दिया है। इन्होंने अलंकार एकदम नहीं

दिए हैं। कहीं-कहीं इन्होंने अपने कबित्त न देकर दोहे के भाव के अन्य कवियों के कबित्त ही लिख दिए हैं। एक दोहे का सवैया नमूने के लिए नीचे दिया जाता है—

रति द्यौस हौंसै रहै मान न ठिक ठहराइ।
जेतौ औगुन ढूँढ़ियै गुनै हाथ परि जाइ॥

जौ हौं झकौं तौ खरो ही लट्टू है करै मनुहार अनूठी अनूठी।
औगुन ढूँढ़ेहूँ हाथ न आवत सौगुन की रहै सिद्ध सी बूठी॥
सील सुभाव सदा निबहै हँसि बोलै अमी-बरषा मनु बूठी।
हौंस हिये निसिद्यौस रहै मनमोहन सौं कबहूँ नहिं रूठी॥

इसी ढंग की दूसरी टीका श्रीजानकीप्रसादजी की है। ये अयोध्या के कनक-भवन स्थान के महंत के शिष्य थे। संवत् १९२७ में इसकी रचना हुई। कविता में ये अपना उपनाम 'रसिक-बिहारी' या 'रसिकेश' रखते थे। 'रसिक-बिहारी' नाम कबित्तों में और 'रसिकेश' सवैयों में प्रयुक्त करते थे। दोहों का अर्थ इसमें भी यथावसर दोनों ही छंदों (कवित्त एवं सवैया) में दिया गया है। कृष्ण कवि की कविता जैसी सरस है वैसी इनकी कविता नहीं हुई है। इनकी टीका का नाम रसकौमुदी है। इन्होंने केवल दोहे को कबित्त या सवैया में परिणत कर दिया है, और कुछ नहीं लिखा है। बानगी के लिए एक कवित्त देखिए—

सुनत पथिक मुँह माह-निसि लुवैं चलति उहिं गाम।
बिनु बूझैं बिनु हीं कहैं जियति बिचारी बाम॥

बीते बहु द्यौस प्रान-प्यारी की न पाई सुधि,
दई वह रैहै किमि अति सुकुमारी है।
सोचत हिये मैं छैल बिबस बिदेस माहिं,
मो मैं प्रान वाकौ प्रिय प्रान हूँ तैं प्यारी है॥
ता छन बटोही कोऊ चरचा चलाई कछू,
'रसिक-बिहारी' भयो अधिक सुखारी है।
सुनी उहिं गाम माँहिं निसि मैं चलत लूह,
सुने बिन बूझे बाम जियति बिचारी है॥

दोहों पर सवैया लगानेवाले ईश्वर कवि नाम के एक सज्जन और हैं। टीका का समय संवत् १६६१ है। सवैया में केवल भाव ही पल्लवित कर दिए गए हैं। दो चार पर संक्षिप्त टिप्पणी भी दी गई है। सवैया यों तो अच्छे हैं, पर कृष्ण कवि की सी मधुरता उनमें कहाँ! एक उदाहरण लीजिए—

पारयौ सोरु सुहाग कौ इन बिनुहीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

देखि कै आवत बालबधू बतरानी सबै करि आप सनेह है।
ईस्वर देखौ करै मिस कैसे हरै मन मारुत यौं नभ मेह है॥
पीतम ही बिन पारयौ सुहाग कौ यानै अरी अब ही करि नेह है।
कीनी उनींदी भली अँखियाँ अरु सौंहैं करी अलसौंहीं सी देह है॥

यहाँ तक हिंदी भाषा में पद्यांतर करनेवालों का विवरण दिया गया है। अब अन्य भाषाओं में पद्यांतर करनेवालों का भी संक्षिप्त विवरण सुनिए। संस्कृत में इसके पद्य में दो भाषांतर हुए हैं; एक का नाम है आर्यागुंफ और दूसरे का नाम है शृंगार-सप्तशती। आर्यागुंफ की रचना काशिराज चेतसिंह के दरबारी पंडित और प्रधान कवि श्री हरिप्रसाद जी ने सं० १८३७ में की थी। इसमें केवल पद्यांतर ही किया गया है, कोई टीका नहीं है। शृंगार-सप्तशती में पद्यांतर के साथ-साथ संस्कृत में ही बिस्तृत टीका भी है। यह टीका सं० १६२५ में पं० परमानंद भट्ट ने की थी और उसे भारतेंदु बाबू और उनके मित्र रघुनाथ पंडित के प्रीत्यर्थ बनाकर उन्हें ही समर्पित किया था। इसमें बिशेषता यह है कि संस्कृत का पद्यांतर भी दोहों में ही है। दोनों में से एक एक उदाहरण दिए जाते हैं—

आर्यागुंफ—

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन बिरद बारक बारन तारि॥

दत्तमनकर्णनमिह सम्यगथाभूद्वृथा ममाह्वानम्।
मन्ये तारणविरुदस्त्यक्तो द्विरदं समुत्तार्य्य॥

शृंगार-सप्तशती में 'सीस मुकुट कटि काछनी' का संस्कृत दोहा यह है—

मस्तकमण्डितमुकुटवर हृदयलसितवनमाल ।
मम हृदये वस कटिरसन मुरलीधर गोपाल ॥

मुंशी देवीप्रसाद जी 'प्रीतम' ने उर्दू में 'गुलदस्तए बिहारी' नाम से दोहों को शेरों में ढाला है । शेरों में अनुवाद बहुत सुंदर हुआ है, इसमें संदेह नहीं । एक दोहे को एक ही शेर में उसी चुस्ती के साथ ढाल लेना बिना सच्ची महारत और इल्म के हो नहीं सकता । यह पुस्तक सं० १६८१ में प्रकाशित हुई है । नमूने के लिए एक शेर पेश करता हूँ—

गोधन तू हरष्यो हिये घरियक लेहि पुजाइ ।
समुझि परैगी सीस पर परत पसुनि के पाइ ॥

पुजा ले दो घड़ी गोधन खुशी से अब तो दिन आए ।
मजा चक्खेगा जब रक्खेंगे सरपर पाँव चौपाए ॥

बिहारी की कुछ टीकाएँ ऐसी भी हुई जिनमें केवल दिमाग का जौहर दिखलाया गया है । सुना जाता है कि छोटूराम नाम के एक व्यक्ति ने बिहारी के दोहों का अर्थ वैद्यक पर घटाया था । पर इसका नाम ही नाम सुना जाता है, कोई पता या नमूना कहीं नहीं मिलता । इधर स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने 'शांत-बिहारी' नाम से दोहों का अर्थ अपनी संपादित 'श्रीविद्या' में निकाला था, पर आगे चलकर उन्होंने यह विचार छोड़ ही दिया । नमूने के लिए एक दोहे का अर्थ दिया जाता है—

कन दैबो सौंप्यौ ससुर बहू थुरहथी जानि ।
रूप-रहँचटे लगि लग्यो माँगन सब जग आनि ॥

शब्दार्थ—स-सुरबहू = देवांगना-सहित, लक्ष्मी तक । थुरहथी = छोटे हाथ-वाला, कृपण, कंजूस । जानि = ज्ञानी (व्यंग्य से मूर्ख) । मा-गन = लक्ष्मी का ढेर । रूप = रुपये ।

भावार्थ—(कोई सत्योपदेशक किसी कंजूस के प्रति कहता है—) हे छोटे हाथवाले ज्ञानी (अर्थात् मूर्ख कंजूस) ईश्वर ने तुझे धन, यहाँ तक कि स्वयं लक्ष्मी ही इसलिए सौंपी है कि तू सबको भिक्षा दे, परंतु तू तो रुपये के लालच

में पड़कर ऐसा बिगड़ा कि सारे संसार से ला ला कर लक्ष्मी का ढेर लगाने लगा (यह उचित नहीं)।

यहाँ तक तो टीकाओं का संक्षिप्त उल्लेख हुआ। अब संक्षेप में ही बिहारी-सतसई के प्रमुख क्रमों का भी उल्लेख किया जाता है। सतसई की आलोचना में इन क्रमों का प्रायः उल्लेख हुआ करता है, इसलिए इनका परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक है। बिहारी-सतसई में दोहों का कोई क्रम नहीं था इसका उल्लेख तो विभिन्न टीकाओं और क्रम बाँधनेवालों की भूमिका से ही चल जाता है—

किए सात सै दोहरा सुकबि बिहारीदास।
बिनुहिं अनुक्रम ए भए महि-मंडल सु-प्रकास ॥—कोविद कवि।

जद्यपि है सोभा सहज मुक्तनि तऊ सु देखि।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेखि ॥—पुरुषोत्तमदास।

जद्यपि है सोभा घनी मुक्ताफल मैं देखि।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेखि ॥—आजमशाही क्रम।

बीते काल अपार तैं भए व्यतिक्रम देखि।
करे अनुक्रम फेरि तैं प्रोहित प्रेम बिसेखि ॥—प्रेम पुरोहित।

यों तो बिहारी-सतसई के १३–१४ क्रमों का पता चलता है, पर उनमें से प्रमुख और महत्त्वपूर्ण क्रम ५–६ हो हैं। सबसे पहला वह क्रम है जिसका अनुगमन 'बिहारी-रत्नाकर' में किया गया है। यह बिहारी का निज क्रम कहा जाता है। इस क्रम का निश्चय कई बहुत प्राचीन पोथियों के आधार पर किया गया है। इस क्रम की स्पष्ट विशेषता यह है कि इसमें दस-दस दोहों के अनंतर एक दोहा नीति-संबंधी या ईश्वर-बिनय का रखा गया है। बीच के दोहों में और कोई विशेष क्रम नहीं है। कहा जाता है कि जिस क्रम से बिहारी-सतसई के दोहों का निर्माण हुआ है उसी अनुक्रम से दोहे इस क्रम में पाए जाते हैं। इस क्रम पर कृष्णलाल की गद्य टीका, मानसिंह विजयगढ़वाले की टीका, फारसीवाली टीका और बिहारी-रत्नाकर हैं।

दूसरों के द्वारा बाँधे गए क्रम में यद्यपि सबसे पहले कोविद कबि का

क्रम है (सं० १७४२) जिसमें विषय-क्रम के अनुसार पुराना क्रम तोड़ दिया गया है, तथापि यह कोई महत्वपूर्ण और अच्छा साहित्यिक क्रम नहीं है। प्रसिद्ध क्रमों में सबसे पहला पुरुषोत्तमदास का बाँधा हुआ क्रम ही है। इसकी चर्चा हरिप्रकाश टीका में की गई है—"पुरुषोत्तमदास जी को बाँध्यौ क्रम है ताके अनुसार टीका।" इस क्रम का समय सं० १७४५ के आस-पास है। इस क्रम की विशेषता यह है कि पहले नायिकाभेद और नख-शिख के क्रम से दोहे रखे गए हैं और अंत में नीति एवं भक्ति के दोहे संगृहीत हुए हैं। इसी क्रम पर अमर-चंद्रिका, हरिप्रकाश टीका, जुल्फिकार खाँ की कुंडलिया, बिहारी-बोधिनी और गुलदस्तए बिहारी हैं।

सबसे अच्छा क्रम अनवर-चंद्रिका का है (सं० १७७१)। यह क्रम रस-निरूपण के अनुसार रखा गया है। इसमें सोलह प्रकाश हैं, पर पहले प्रकाश में कवि ने अपने प्रभु के वंश का वर्णन किया है। तेरह प्रकाश तक नख-शिख, नायिकाभेद, बियोग-दशा, सात्त्विक एवं हावादि के दोहे हैं और अंत में नवरस, षट्ऋतु और अन्योक्ति के दोहे रखे गए हैं। इस क्रम पर साहित्य-चंद्रिका, प्रताप-चंद्रिका और रणछोड़जी दीवान की टीकाएँ हैं।

इसके बाद सबसे प्रसिद्ध क्रम का समय आता है (सं० १७८१)। इसका नाम आजमशाही क्रम है। बहुत-से लोग भ्रमवश यह समझने लगे हैं कि यह क्रम दिल्ली के बादशाह आजमशाह ने बँधवाया था। पर वस्तुतः यह क्रम आजमगढ़ के तत्कालीन अधिकारी आजम खाँ के अनुरोध से जौनपुर के हरिजू नाम के किसी कवि ने लगाया था। इस क्रम का नाम 'आजमशाही' ही धोखे की टट्टी है, वस्तुतः इसका नाम 'आजमखानी' होना चाहिए। इस भ्रम का प्रचार 'लालचंद्रिका' के कारण हुआ है। यह क्रम भी नायिका-भेद को ही लेकर चला है। इस क्रम का ग्रहण लाल-चंद्रिका, भावार्थ-प्रकाशिका, बिहारी-बिहार, संजीवन-भाष्य और शृंगार-सप्तशती में किया गया है।

कृष्णदत्तवाली कवित्त-बंध टीका का भी एक क्रम है। यह क्रम भी विषय के अनुसार ही है, पर कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। इस क्रम

पर प्रभुदयाल पाँड़े की और गुजराती टीका भी है। ईसवी खाँ ने अपना क्रम सबसे निराला रखा है। उन्होंने दोहों को अकारादि क्रम से ही रख दिया है। संभव है कि इन क्रमों के अतिरिक्त भी और क्रम हों, पर जो टीकाएँ मिलती ही नहीं हैं उनके संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

टीकाओं के अतिरिक्त बिहारी के संबंध में कुछ लेख भी हैं। यों तो बिहारी की प्रशंसा में प्राचीन टीकाकारों ने भी दो-चार दोहे लिखने का प्रयत्न किया है, जिनमें बिहारी की प्रशंसा प्राचीन परंपरा के ढंग की की गई है। उन दोहों से यही प्रकट होता है कि बिहारी की कविता लोक में बहुत प्रसिद्ध हो चुकी थी। इधर गद्य में खड़ीबोली के गृहीत हो जाने पर जो टीकाएँ लिखी गईं उनमें से अधिकांश में भूमिकाएँ दी गई हैं और बहुतों में बड़ी बड़ी भूमिकाएँ हैं। इन सब में बिहारी की जीवनी, उनकी काव्यप्रतिभा एवं टीकाओं आदि का उल्लेख है। इनका उल्लेख हम टीकाओं के साथ ही करते आए हैं। इसलिए फिर से उनका उल्लेख अतिप्रसंग हो जायगा। उनके अतिरिक्त और लेखों के संबंध में कुछ परिचय दे देना चाहिए। स्वर्गीय राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेंदु' पत्र में एक लेख छपवाया था जिसमें बिहारी की प्रशंसा के अतिरिक्त उनकी जाति आदि का भी निर्णय करने का प्रयत्न किया गया था। पं० महेशदत्तजी ने भाषा-काव्यसंग्रह में बिहारी को कान्यकुब्ज ब्राह्मण लिखा। इसके अनंतर बा० राधाकृष्णदासजी ने एक निबंध लिखा जिसमें प्रसिद्ध कवि केशव और बिहारी की कविता का मिलान करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि बिहारी उनके पुत्र थे।

बिहारी के संबंध में सबसे अधिक चर्चा और विवाद उस समय से आरंभ हुआ जब मिश्रबंधु महोदयों ने अपना 'हिंदी-नवरत्न' प्रकाशित किया। इस पुस्तक में एक किसी पुराने कवित्त के आधार पर कवि देवदत्त को बिहारी से पहले स्थान दिया गया। यह बात बहुत से लोगों को खटकी। श्री पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने 'सरस्वती' में इस ग्रंथ की कड़ी टीका की और 'नवरत्न' में गृहीत 'मान-दंड' को अनुचित बतलाया। इधर पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने 'सतसई-संहार' के नाम से

एक लेख पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की 'भावार्थ-प्रकाशिका' टीका की आलोचना में 'सरस्वती' में ही छपवाया। फिर उन्होंने संजीवन-भाष्य लिखना आरंभ कर दिया। जिसको भूमिका के रूप में पहला खंड प्रकाशित किया गया। इसमें संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, उर्दू के कवियों की रचना से बिहारी की कविता की तुलना करके यह दिखाया गया है कि बिहारी ने जो कुछ कहा वह सबसे बढ़कर है। 'हिंदी-नवरत्न' में बिहारी की कविता में कुछ दोष भी दिखाए गए थे, उनका भी इसमें निराकरण किया गया। यह पुस्तक लिखकर शर्माजी ने हिंदी में तुलनात्मक समालोचना का आरंभ किया। कहीं शर्माजी बिहारी की देव के साथ तुलना करना भूल गए। इतने बड़े कवि के साथ बिहारी की तुलना न की जाय, यह अवश्य उस कवि के संबंध में उपेक्षाभाव बतलाता है। बस, फिर क्या था। श्री पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक एक पुस्तक प्रकाशित करवाई। इस पुस्तक में इन दोनों कवियों की कविताओं का अलग-अलग विवेचन किया गया। इसके लिखने का तात्पर्य यही था कि देव बिहारी से अच्छे कवि हैं। यह बात पुस्तक के नाम से ही लक्षित करा दी गई है। स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी को यह बहुत बुरा मालूम हुआ। उन्होंने जबलपुर की 'श्रीशारदा' नामक पत्रिका में इस पुस्तक की और साथ ही हिंदी-नवरत्न में बिहारी के संबंध में प्रकट किए गए विचारों की बहुत रूखी और कड़वी भाषा में आलोचना की। इसी आलोचना को उन्होंने 'बिहारी और देव' के नाम से अलग पुस्तकाकार भी छपवा दिया। लालाजी के इस मैदान में आ जाने से बिहारी और देव को लेकर कुछ दिनों तक खूब लिखा-पढ़ी होती रही। अंत में दोनों पक्ष के लोग एक दूसरे की साहित्य-मर्मज्ञता परखने के लिए कुछ और आगे बढ़ गए। हिंदी के सौभाग्य से इस दलादली में और साहित्यिक नहीं कूदे। लालाजी की मृत्यु के बाद से यह शोर कम हो गया है।

बिहारी के संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण लेखमाला स्वर्गीय रत्नाकरजी ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में छपवाई। एक लेख में बिहारी की जीवनी पर विचार किया गया है और यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है

कि बिहारी यदि प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र नहीं, तो कमसे-कम शिष्य तो अवश्य थे। उनके विचार से बिहारी उनके पुत्र हो सकते हैं, पर किसी ऐतिहासिक प्रमाण का आधार न मिलने से उन्होंने उसे वहीं छोड़ दिया है। दूसरा लेख उन्होंने बिहारी-सतसई से संबंध रखनेवाले साहित्य पर लिखा है। इस लेख में बड़े विस्तार से सतसई के टीकाकारों और टीकाओं का परिचय, उनके क्रम तथा अन्य लेखों का विवरण दिया गया है। एक लेख में उन्होंने यह भी दिखलाया है कि व्रजभाषा का व्याकरण प्रस्तुत करने के लिए यदि बिहारी-सतसई आधार बनाई जाय तो एक अच्छा व्याकरण प्रस्तुत हो सकता है। जहाँ कमी पड़ेगी उसके लिए घनानंद से सहायता ली जा सकती है। रत्नाकरजी के ये लेख वस्तुतः उनके 'बिहारी-रत्नाकर' की भूमिका के अंग हैं। बिहारी की आलोचना के रूप में उन्होंने जो लिखा है, वह अभी तक प्रकाशित नहीं किया गया है।

इसके अतिरिक्त बिहारी पर कितने ही लेख अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी समय-समय पर निकलते रहे हैं, पर उनमें विशेष-रूप से उल्लेख-योग्य कोई नहीं है। अधिकांश में या तो किसी दोहे की गुत्थी सुलझाई अथवा उलझाई गई है या मुग्ध भाव से बिहारी की गुणावली गाई गई है। 'जागरण' के एक लेख में बिहारी के 'ग्राम्य-वर्णन' पर कुछ अच्छा विचार किया गया है। यद्यपि लेखक ने बिहारी की परीक्षा कड़ाई के साथ की है, पर इसमें संदेह नहीं कि 'ग्राम्य-जीवन' के प्रति उनका अनुराग नहीं था। बिहारी की बहुत संक्षिप्त, पर प्रौढ़ एवं तात्त्विक आलोचना श्रद्धेय आचार्य पं० रामचंद्रजी शुक्ल के 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' में मिलती है। हिंदी में बिहारी की विशेषताओं का स्वतंत्र रूप से उद्‌घाटन करनेवाली कोई पुस्तक नहीं निकली है।

उपसंहार

बिहारी और उनकी सतसई के संबंध में जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि बिहारी ने बहुत थोड़ी रचना से ही अधिक संमान प्राप्त कर लिया। इतनी कम रचना करके इतना अधिक संमान प्राप्त करनेवाला हिंदी का दूसरा कोई कवि नहीं है। बिहारी को जो संमान मिला वह इसलिए नहीं कि वे अपनी कविता के क्षेत्र में अकेले हैं, बल्कि इसलिए कि उन्होंने अपनी रचना के लिए शृंगार का जो क्षेत्र चुना उसमें उसी ढंग की मुक्तक-रचना करनेवाले कवि जनता और काव्य-मर्मज्ञों की दृष्टि में उनसे बढ़कर नहीं सिद्ध हुए। बहुतों ने उनकी नकल की, बहुतों ने उनके भाव लिए, भाषा ली, शैली ग्रहण की, पर कोई इतना समर्थ या शक्तिशाली नहीं हुआ जो रसिकों में उनके संबंध में बैठे हुए विचार को बदल देता। बिहारी को हुए तीन सौ वर्ष के लगभग हो चुके, पर बिहारी का अध्ययन अब भी जारी है, उसमें किसी प्रकार की अड़चन नहीं आई। नई सभ्यता के हिमायतियों ने सतसई को कुरुचिपूर्ण, अश्लील—न जाने क्या-क्या कहा, पर उसका असर कुछ भी नहीं हुआ। यह युग शृंगार का विरोधी युग माना जाता है—यद्यपि छद्म-शृंगारी कविताओं का अटाला लगता चला जा रहा है—पर बिहारी का विरोध होने पर भी उनकी कविताएँ पढ़ी जाती हैं, उनमें चुंबक की भाँति कोई ऐसा आकर्षण है जो बरबस हृदय को खींच लेता है। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि बिहारी में घोर शृंगार की कविताएँ नहीं हैं। हैं, पर वे बहुत थोड़ी हैं; उन्हें सरलतापूर्वक अलग किया जा सकता है। पर जिन लोगों को नायिका-भेद का नाम सुनते ही चक्कर आने लगता है, या जो यह समझते हैं कि शृंगार की सारी कविताओं में अश्लीलता ही अश्लीलता रहती है, उनकी समझ को फेरने की दवा ही क्या है?

बिहारी के एक-एक दोहे में विशेषताए भरी पड़ी हैं, भावों की

पुनरुक्ति उनमें कहीं नहीं है, उपमाओं की भले ही हो। उनके प्रत्येक दोहे का एक स्वतंत्र लक्ष्य है, उसी तक पहुँचने का प्रयत्न उस दोहे में किया गया है। मुक्तक-रचना में जितनी भी विशेषताएँ संभाव्य हैं बिहारी में सब पाई जाती हैं, वे अपने चरम उत्कर्ष को पहुँची हुई हैं। यही कारण है कि उनकी कविता के सामने दूसरे किसी मुक्तक-रचनाकार का कविता जँचती नहीं। किंतु इन सब बातों का बहुत विस्तार करना अभीष्ट नहीं था। साहसी लोग तो एक दोहे की आलोचना में ही ग्रंथ का ग्रंथ लिख सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में बिहारी की सामान्य और व्यापक विशेषताओं का ही थोड़े में उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है। इसलिए उनकी बहुत सी छोटी-छोटी विशेषताएँ छूट भी गई हैं। बहुत-सी बातें केवल प्रकरण के विस्तार के हो कारण नहीं लिखी जा सकीं। जैसे भाषावाले प्रकरण में ही बिहारी के शब्द-प्रयोग पर समुचित विचार नहीं किया जा सका। बिहारी में कहीं-कहीं ऐसे ऐसे शब्द पड़े हुए हैं जो उनकी भावाभिव्यक्ति में अत्यधिक सहायक हैं। ऐसे प्रयोग लाक्षणिक भी हो सकते हैं और सांकेतिक भी। पर लाक्षणिक प्रयोगों में जहाँ व्यंजना अच्छी रहती है उसकी प्रशंसा सभी लोग करते आए हैं। बिहारी का ऐसा ही एक उदाहरण लीजिए—

> पग पग मग अगमन परति चरन अरुन दुति झूलि।
> ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया के फूलि॥—२४६।

यहाँ पर 'झूलि' शब्द का प्रयोग बहुत ही उत्तम हुआ है। पैर रखने पर उसकी लाल आभा आगे की ओर झूल पड़ती है। फूल के पौधे में, विशेषतः गुल-दुपहरिया (बंधूक) के पौधे में फूल वृंत में झूला करते हैं। द्युति फूल की भाँति कोई साकार पदार्थ नहीं है, पर उसकी आभा किस प्रकार फैलती है इसे व्यक्त करने के लिए उसका झूल पड़ना कहा गया है। द्युति के फैलाव का बोध कराने के लिए यह प्रयोग बहुत अच्छा कहा जायगा।

बहुत से प्राचीन टीकाकारों ने, जिनका उल्लेख पहिले किया गया है, प्रत्येक दोहे में ध्वनि आदि निकालने का प्रकांड प्रयत्न किया है।

उन्होंने कितने ही विवाद खड़े किए हैं, और उनका समाधान किया है। वह भी बिहारी की प्राचीन ढंग की समालोचना ही है। हिंदी और संस्कृत-साहित्य में टीकाकार साथ-साथ आलोचना का भी अज्ञात रूप से काम किया करते थे। मल्लिनाथ की टीकाओं में कालिदास तथा अन्य संस्कृत-कवियों की बहुत सी समालोचना भरी पड़ी है। पर उन विवादों को उठाना आजकल की आलोचना में 'पुरानी बात' समझी जाती है। फिर भी इसमें भारतीय ढंग पर ही चलने का उद्योग किया गया है। हमारे यहाँ रीति-ग्रंथों में जितनी शास्त्रीय बातें कही गई हैं उनपर यदि विवेकपूर्ण दृष्टि रखी जाय तो किसी भी कवि की, वह चाहे देशी हो या विदेशी, भली भाँति आलोचना की जा सकती है और वह आलोचना तात्त्विक होगी। रस-चक्र का जैसा निरूपण हमारे यहाँ हुआ है, वैसा और कहीं नहीं है। बहुत-सी सामग्री तो अभी संस्कृत के रीति-ग्रंथों की टीकाओं में दबी पड़ी है। वस्तुतः यही पद्धति आलोचना के लिए श्रेयस्कर है। भावात्मक समालोचना और तुलनात्मक समालोचना का भी बाजार गर्म है। पर इसमें दोनों प्रकार की आलोचनाओं से पृथक् रहने का प्रयत्न किया गया है। बिहारी के गुण-दोष बिना किसी हिचकिचाहट के कहे गए हैं।

बिहारी की प्रशंसा केवल हिंदी में ही या भारतीय के द्वारा ही की गई हो, ऐसा नहीं है। प्रसिद्ध साहित्य-रसिक डा० गियर्सन ने अपने 'लाल-चंद्रिका' के संस्करण की भूमिका में यहाँ तक लिख दिया है कि—

"Biharilal has been called the Thompson of India, but I do not think that either he or any of his brother-poets of Hindustan can be usefully compared with any Western poet. I know nothing like his verses in any European language."

अर्थात् "बिहारी भारत के थाम्सन् कहे जाते हैं। पर मेरी समझ में उनकी या उन्हीं के भाई-बंधु किसी दूसरे भारतीय कवि की किसी प्रतीच्य कवि से ठीक-ठीक तुलना नहीं की जा सकती। मैं तो योरप की किसी

भी भाषा में बिहारी की सी रचना की जोड़ से अभिज्ञ नहीं हूँ।"

जो लोग विलायती कवियों पर लट्टू होने के फल-स्वरूप अपनी देशी कविता को घृणा की दृष्टि से देखा करते हैं, जिन्हें यहाँ की कविता में कुछ भी नहीं मिलता, उन्हें डा० ग्रियर्सन के कथन पर ध्यान देकर अपनी आँखें खोलनी चाहिएँ।

प्रबंध और मुक्तक का भेद लेकर चलें तो इसमें संदेह नहीं कि मुक्तक-रचना करनेवालों में बिहारी सबसे श्रेष्ठ हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि मुक्तक-रचना प्रबंध-रचना से अधिक महत्त्वपूर्ण और परिश्रम-सापेक्ष है। पर अब इस बात में कम लोग विश्वास करते हैं। प्रबंध-रचना कठिन काम है। पर इसमें भी संदेह नहीं कि बिहारी की भाँति नाना प्रकार की ऊहाएँ करना और भाव, भाषा एवं शैली की ऐसी चुस्ती लाना कम कौशल का काम नहीं। बिहारी के दोहों में ऐसी विशेषता पाई जाती है कि अमरुक कवि के श्लोकों की प्रशंसा में कहे गए वाक्यांश को बिहारी के दोहों के संबंध में भी कहा जा सकता है अर्थात् 'बिहारी-कवेरेकैव दोहा प्रबंधशतायते।'

जिस कवि की कविता तीन सौ वर्षों से लोगों को काव्यानंद देती चली आ रही है, जिसकी वाग्धारा नाना प्रकार के विप्लवों के युग की अशांत परिस्थिति को चीरती हुई अब भी ज्यों की त्यों रसिकों को स्नान कराने के लिए बह रही है, जिसकी कविता में बूड़नेवाले तो पार लग सके पर जो ऊपर ही हाथ-पैर फेंकते रहे वे डूब गए, उस अमर कवि की वाणी साहित्य से रुचि रखनेवालों को सदा आनंद देती रहेगी, ऐसा हमारा विश्वास है। बिहारी का यश अजर और अमर है, उस रस-सिद्ध कवि की वाणी धन्य है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयं॥—भर्तृहरि।

नामानुक्रमणिका

[संख्याएँ पृष्ठ की हैं और '(टि)' पाद-टिप्पणी के लिए]

अ

अंगदर्पण—१८५ ।

अंबिकादत्त व्यास—७६ (टि), १९७, १९९, २०० ।

अकबर—८, ९ ।

अग्निपुराण—२३ (टि), ७७ (टि) ।

अनंतकुमारी—४ ।

अनवर खाँ—१६१ ।

अनवरचंद्रिका—१६१, १६३, २०६ ।

अभयसिंह—१६१ ।

अमरचंद (भंडारी नांढूला)—१६१ ।

अमरचंद्रिका—१६१, १६३, १६४, २०६ ।

अमरुक—६१, २१३ ।

अमरुकशतक—२५, ३६, ४०, ४२, (टि) ४३, ४४, ६१ ।

अलंकार-सर्वस्व—७५ (टि) ।

अलकशतक—७१ ।

अलाउद्दीन—८ ।

आ

आजम खाँ—२०६ ।

आजमखानी (क्रम)—२०६ ।

आजमशाह—२०६ ।

आजमशाही (क्रम)—२०५, २०६ ।

आनंदवर्धन (आचार्य)—२५, ४४ ।

आनंदीलाल शर्मा (जोशी)—१६७ ।

आर्यागुंफ—२०३ ।

आर्यासप्तशती—३६, ४०, ४१ (टि) ४२ ।

इ

इंद्रजीत—२ ।

ई

ईश्वर कवि—२०३ ।

ईश्वरीप्रसाद (कायस्थ)—१६६ ।

ईसवी खाँ—१६२, २०७ ।

उ

उत्तररामचरित—१२१ ।

औ

औरंगजेब—८ ।

क

कबीर—९, १२, १३३ ।

कमलनयन—१६१ ।

कर्ण कवि—१६१ ।

कवितावली—२६, ७१, ११२।
कवित्त-बंध टीका—२०६।
कादंबरी—१२१।
कालिदास—१६, ६४, ६५, १२०, १२१, २१२।
काव्यकल्पद्रुम—७८ (टि), १७५ (टि), १७६ (टि)।
काव्यनिर्णय—१५०, १५४।
काव्यप्रकाश—६७ (टि), ७५ (टि)।
काव्यादर्श—१७६।
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—७५ (टि)।
काशीनाथ—७२।
कुंतल—१३२।
कुंदनशाह—३४।
कुमारसंभव—६४।
कुलपति मिश्र—१ (टि), २ (टि), ३ (टि)।
कुशलविलास—१०।
कृपाराम—४५।
कृष्ण कवि (कृष्णदत्त)—१६०, १६४, २०१, २०३, २०६।
कृष्णगीतावली—२६।
कृष्णबिहारी मिश्र—२०८।
कृष्णलाल—५ (टि), ७ (टि), १८६, १६४, २०५।
केशवदास (केशव)—१ (टि), २, १२, १५, १६, १८, १६, २०, ३०, ७२, ७६, ८६, ८७, १०४, १४३, १५३, १५४, १८५, १६२, २०७।
केशवराय—१, २ (टि)।
केसौराय—१ (टि)।
कोविद कवि—२०५।

ग

गंग—३ (टि), १५०।
गंगावतरण—१६३, १८७, १८८।
गदाधर—१६४।
गवर्नमेंट प्रेस—१६४।
गाथासप्तशती—१६, १७, १८, ३६, ४०, ४१, ४२, १२६ (टि)।
गीता—१२।
गीतावली—२६।
गुजराती टीका—२०७।
गुलदस्तए बिहारी—२०४, २०६।
ग्यारहसई—४०, १८०।
ग्रियर्सन साहब (डाक्टर)—१ (टि), १६३, १६४, २१२।

घ

घनानंद—२२, २६, ३५, १०८, ११८, १२४, १५२, १६०, १६१, १६४, १७२, १८८, २०६।

च

चंद्र कवि—१६८ ।
चंद्रधर शर्मा गुलेरी—१७ (टि) ।
चंद्रशेखर वाजपेयी—१६३ ।
चंद्रालोक—७५ (टि) ।
चेतसिंह—२०३ ।

छ

छत्रसाल-दशक—१२८ ।
छोटूराम—२०४ ।

ज

जगतसिंह—१६२ ।
जगद्विनोद—१८६ ।
जगन्नाथदास—देखो 'रत्नाकर' ।
जगन्नाथ पंडितराज—५० ।
जयदेव—६ ।
जयसिंह (जयशाह)—४, ५, २५, ८८, १३६ ।
जहाँगीर—३, ८ ।
जागरण—५७ (टि) ।
जातकसंग्रह—७२ (टि) २०६ ।
जानकीप्रसाद—२०२ ।
जायसी—२२, ३२, १४३ ।
जुल्फिकार अली (खाँ)—१६६, २०६ ।
जोखूराम पंडा—२०१ ।
ज्वालाप्रसाद मिश्र—१६४, १६५, २०८ ।

ठ

ठाकुर—२२, २६, ३५, १०८, ११८, १८८, १६३ ।

त

तिलशतक—७१ ।
तुलसीदास (तुलसी)—६, २१, २३, २६, ३६, ४५, ६५, ६८, ७१, ८४, ११२, ११८, १२६, १३१, १३२, १३४, १५३, १६०, १७६, १७८, १७६, १८०, १८५ ।
तुलसी-सतसई—३६ ।

द

दंडी—३६, ७६ ।
दास (भिखारीदास)—१५०, १५४, १५६ ।
देव (देवदत्त)—१०, १६६, २०८ ।
देव और बिहारी—२०८ ।
देवकीनंदन कवि—४० ।
देवकीनंदन टीका—१६३, १६७ ।
देवकीनंदनसिंह—१६३ ।
देवीप्रसाद (प्रीतम)—२०४ ।
दोहावली—२३, २४, ६८ ।
द्विजदेव—१५६ ।

न

नगर-शोभा—४६ ।
नरपतिजयचर्या—७२ (टि) ।

नरहरिदास—२, ३ ।
नवलकिशोर प्रेस—१६४ ।
नागरीदास—३४ ।
नागरी-प्रचारिणी पत्रिका—१ (टि), २ (टि), ३ (टि), ५ (टि), १७ (टि), १८ (टि), ४२, ४३, २०८ ।
नाट्यशास्त्र—६, ६४ ।
नारायण कृती (कविराज विश्वनाथ के वृद्धप्रपितामह)—१०३ ।
नासिक—१२३ (टि) ।
निजमतसिद्धांत—२ (टि) ।
निरंजन—५, ५ (टि) ।
निर्गुण संप्रदाय—३२ ।
नूरजहाँ—३ ।
नौसई—४० १८०

प

पठान सुलतान—१६८ ।
पद्मसिंह शर्मा—७६ (टि), १४३, १७६, १८२, १६५, २०७ ।
पद्माकर—८०, १०१, १२२ (टि), १५६, १७२, १८५, १८६, १६२, १६४, १६५, २०८ ।
परमानंद भट्ट—२०३ ।
परशुराम मिश्र—३ (टि)
पुरानी हिंदी—१७ (टि) ।
पुरुषोत्तमदास—२०५, २०६ ।
पृथ्वीराजरासो—१५० ।
प्रताप (महाराणा)—८ ।
प्रतापचंद्रिका—१६२, २०६ ।
प्रतापविजय—१६१ ।
प्रतापसिंह—१६२ ।
प्रभुदयाल पाँडे—१६४, २०७ ।
प्रेमपुरोहित—२०५ ।
प्रेमवाटिका—३४ ।

फ

फारसी टीका—२०५ ।

ब

बंगवासी (आफिस)—१६४
बरवै नायिकाभेद—४६ ।
बरिवंडसिंह—१६२ ।
बिहारी और देव—२०८ ।
बिहारी-बिहार—१ (टि), ७६ (टि), १६७, १६६, २०१, २०६ ।
बिहारी-बोधिनी—५४ (टि), १४३, १६५, २०६ ।
बिहारी-रत्नाकर—४३ (टि) ७६ (टि), १४३, १५२, १५७, १६७, १६८, १७०, १६६, २०५, २०९ ।
बिहारी-सतसई की भूमिका—७६ (टि) १७६, १८२ ।

भ

भगवानदीन (लाला)—१८१, १६५, २०४, २०८ ।
भर्तृहरि—३७, २१३ ।

भवभूति—१०३, १२१।
भवानी-विलास—१०।
भागवत—१२।
भारतजीवन प्रेस—१६२।
भारतेंदु (पत्र)—२०७।
भारतेंदु बाबू (हरिश्चंद्र)—१८०, १८७, २०१, २०३।
भावार्थप्रकाशिका (गुजराती)—१६७।
भावार्थप्रकाशिका (हिंदी)—१६४, २०६, २०८।
भाषा-काव्यसंग्रह—२०७।
भाषा-भूषण—१६४।
भिखारीदास (दास)—देखो 'दास'।
भूषण—१३, १२८, १६६।

म

मतिराम—१५६, १७२, १८२, १८३।
मतिराम-सतसई—३६, १८०, १८२, १८३।
मत्स्यपुराण—८७ (टि)।
मनीराम—१६२, १९३।
मनोरंजनप्रसाद सिंह—५७ (टि)।
मम्मट (आचार्य)—६६।
मल्लिनाथ—२१२।
महावीरप्रसाद द्विवेदी—२०७।
महेशदत्त—२०७।
मान कवि या मानसिंह—१९०, २०५।
मालती-माधव—१२१।
मिश्रबंधु—१ (टि), २०७।
मीराबाई—३३।
मीरा-मंदाकिनी—३३।
मुबारक—७१।
मेघदूत—१२०।

य

याज्ञिक महोदय—४६।

र

रघुनाथ पंडित—२०३।
रघुनाथ बंदीजन—१९२।
रघुवंश—१६ (टि)।
रणछोड़ जी (दीवान)—१९३, २०६।
रतनहजारा—२१, ४०, १८०, १८५।
रत्नाकर (जगन्नाथदास)—१ (टि), २ (टि), ५ (टि), ७ (टि), ३८, १०१, १५४, १५७, १५८, १६३, १६६, १७०, १७२, १८०, १८१, १८५, १८६, १८७, १८८, १९०, १९३, १६४, १६६, १६७, २००, २०८।
रसकुसुमाकर—६६ (टि)।
रसकौमुदी—२०२।
रसखान—२२, २६, ३४, ३५।
रसचंद्रिका—१६२।

रसतरंगिणी—१६ (टि), १३७ ।
रसनिधि—३५, १८५ ।
रसमंजरी—१० (टि) ।
रसराज—१८३ (टि) ।
रसलीन—२१, २२, ६६, १८५, १८६ ।
रसिकबिहारी—२०२ ।
रसिकप्रिया—१५, १६, १६२ ।
रसिकेश—२०२ ।
रहीम (खानखाना)—३, ७, ३४, ३९, ४०, ४५, ४७, ४८, ४६, ६०, ६३, ६४, १८५ ।
रहीम-दोहावली—४५ (टि), ४६, ६० ।
रहीम-रत्नावली—३४, ४६ ।
राजविलास—१६० ।
राजशेखर—४४ ।
राजसिंह—१६० ।
राधाकृष्णदास—२०७ ।
राधाचरण गोस्वामी—१ (टि), २०७ ।
रामकृष्ण (परमहंस)—१०८ ।
रामचंद्र शुक्ल—३० (टि), १३७, १६६, २०९ ।
रामचंद्रिका—१५४ ।
रामचरितमानस—६ (टि), १२, २३, २४, २६, १६०, १९८, १६५ ।
रामसतसई—३६ ।
राससिंह (कुमार) ४ ।

ल

ललितललाम—१८३ (टि) ।
लल्लूलाल—१६३, १९४ ।
लाइट प्रेस—१९४ ।
लाल—१६० ।
लालचंद्रिका—१ (टि), ४३, ५३ (टि), १८९, १९३, १९४, २०६, २१२ ।

व

विकटनितंबा—४१ (टि) ।
विक्रमसतसई—३९, १८०, १८४ ।
विक्रमांकदेवचरित—३६ (टि) ।
विक्रमोर्वशीय—१२१ ।
विज्ञानगीता—२ (टि) ।
विद्यापति—९ ।
विनयपत्रिका—१३० ।
विश्वनाथ कविराज—१०३ ।
वृंद—३० ।
वृंद-सतसई ३९ ।
वेदव्यास—७६ ।

श

शकुंतला (नाटक)—१२१ ।
शांत-बिहारी—२०४ ।
शाहजहाँ—३, ८, ९ ।
शिवराज-भूषण—१२८ ।
शिवसिंह-सरोज—१९८ ।
शिवाजी—८८ ।

शिवा-बावनी—१२८।
शीघ्रबोध—७२।
शुभकरण—१११।
शृंगार-सतसई—३९, १८०, १८४।
शृंगार-सप्तशती—२०३, २०६।
शृंगार-सोरठ—४६।
श्रीविद्या—२०४।
श्रीशारदा—२०८।

स

संग्राम-सार—२ (टि)।
संजीवन-भाष्य—१४३, १९५, २०६, २०८।
संस्कृत प्रेस—१९४।
सतसई-संहार—२०७।
सतसैया-वर्णार्थ (टीका)—१९३।
सफ़रंगे सतसई—१९७।
सभाप्रकाश—१९२।
सरदार कवि—१९४।
सरसदेव—२।
सरस्वती—१९५, २०७, २०८।
सरस्वतीकंठाभरण—१७ (टि)।
सवितानारायण कवि—१९७।
साहित्य-चन्द्रिका—१९१, २०६।
साहित्यदर्पण—२३ (टि), ९४ (टि), ९५ (टि), ९७ (टि)।
साहित्य-परिचय—१९४।
सिंहासन-बत्तीसी—१९४।
सुमेरसिंह (बाबा)—२००।
सूफ़ी कवि—९, ३३।
सूरति मिश्र—१११, १९८।
सूरदास—९, २५, ३०, ८४, १०५, ११४, १२९, १३१, १३२, १५२।
सूरसागर—२५, ११४।

ह

हम्मीरहठ—१९३।
हरिचरणदास—१९२।
हरिजू—२०६।
हरिप्रकाश—१९२, १९४, २०६।
हरिप्रसाद—२०३।
हिंदी-नवरत्न—१६६, २०७, २०८।
हिंदी-साहित्य का इतिहास—१६७ (टि), २०९।
हिततरंगिणी—४५, ४६, ४७।
हेमचंद्र—१६, ४०, ४२, १६८।